श्रीहरिः

ईशावास्योपनिषत्

शुद्धाद्वैतसिद्धान्तानुगामिपुष्टिमार्गप्रपाख्यव्याख्योपेता
तदनुसारिभाषान्तरसहिता च



भाषान्तरकर्ता
पं० रघुनाथप्रसाद चतुर्वेदः

व्याख्याप्रणेता—
पं० सबलकिशोरचतुर्वेदः

श्रीहरिः

ईशावास्योपनिषत्

शुद्धाद्वैतसिद्धान्तानुगामिपुष्टिमार्गप्रपाख्यव्याख्योपेता
तदनुसारिभाषान्तरसहिता च

व्याख्याप्रणेता—
पण्डितसबलकिशोरचतुर्वेदः
व्याकरणाचार्यः, शुद्धाद्वैतलब्धवर्णश्च

भाषान्तरकर्ता
पण्डित रघुनाथप्रसाद चतुर्वेदः
साहित्यशास्त्री

रामनवमी] [सं० २०१०

मूल्य १) रुपया

प्रकाशकः—

पं० सबलकिशोर चतुर्वेदो

श्रीवल्लभपुष्टिपाठशाला,

प्रयाग घाट, मथुरा ।



मुद्रकः—

श्रीकाशीराज-मुद्रणालय

रामनगर (काशी)

एक निवेदन

आज से लगभग १५ वर्ष पूर्व की बात है, जब मैं बरसाना में प्रेमसरोवर पर मथुरानिवासी चूरू-रामगढ़ के सेठों के, एक छोटे से, नहीं-नहीं बहुत बड़े, संस्कृत विद्यालय में अध्यापन का कार्य करता था, तब यह ईशोपनिषद् की व्याख्या लिखी गई थी। विद्यालय को छोटा इसलिये बतलाया कि यहां छात्रों की संख्या स्वल्प थी और बहुत बड़ा इसे इसलिये कहा कि यहां कई विषयों के आचार्य तक के विद्यार्थी अध्ययन करते थे। आज की परिभाषा में इसे संस्कृत का 'डिग्री कालेज' कहा जा सकता था।

वहां इस कार्य को मैं कई वर्ष पहले से कर रहा था। मुझे इसके पूर्व भी कई एक संस्कृत-विद्यालयों में अध्यापन का अवसर प्राप्त हो चुका था, इसलिये मेरी इस कार्य में धीरे-धीरे कुछ गति होती जा रही थी कि अद्भुतकर्मा भक्तवत्सल भगवान् ने मेरे किसी अनिर्वचनीय हितसाधन के लिये प्रसिद्ध वैष्णव श्री ग्वालदास जी मूंधड़ा को निमित्त बनाकर साम्प्रदायिक शास्त्र-सेवन के प्रलोभन से शास्त्रान्तरों के प्रयासप्रद अभ्यास का निरास किया।

इसके पूर्व मैं गोस्वामिप्रवर श्री १०८ श्रीपुरुषोत्तमलाल-जी महाराज, मथुरा (कोटा) के साथ भी कई वर्ष रह चुका था। ये महाराज बड़े ही सुयोग्य तथा विद्याव्यसनी हैं। इनकी कृपा से पुष्टिमार्गानुयायी सद्वैष्णवों का सम्पर्क तथा साम्प्रदायिक ग्रन्थों का अवलोकन प्रायः होता रहता था। दैवयोग से इन्हीं दिनों संस्कृत-कालेज, बनारस की परीक्षा-सम्बन्धिनी नवीन नियमावली में निम्बार्क तथा वल्लभ-वेदान्त की शास्त्री, आचार्य

परीक्षाओं का समावेश देखकर वल्लभवेदान्त शास्त्री के प्रथमवर्ष की परीक्षा में सम्मिलित होने की इच्छा जागरित हुई। यथा-साध्य परीक्षा में निर्धारित पुस्तकें एकत्रित कीं, पर वे अधिकतर अन्य सम्प्रदायानुसारिणी टीकाओं से ही समलङ्कृत थीं। इस लिये अध्ययन भी उन्हीं के सहारे जैसा कुछ चल सकता था, चलने लगा। वास्तव में परीक्षासम्बन्धी पाठ्य पुस्तकों पर संप्रदायानुसारिणी टीकायें अभीतक स्वल्प ही लिखी गई हैं, और उनका भी सर्वत्र उपलब्ध होना एक कठिन बात है। भट्ट श्रीवलभद्र जी द्वारा लिखित ईशोपनिषद् की टीका भी उसके बहुत समय बाद प्रकाशित हुई है। अतः मन में इसी कमी का ध्यान कर कुछ लिखने का विचार हुआ, जिसके परिणामस्वरूप आकार में सबसे छोटी, किन्तु संख्या में सबसे प्रथम ईशोपनिषद् पर अपने मानसिक भाव निबद्ध करने लगा।

वैष्णववर श्री तुलाराम जी ने, जो उन दिनों बरसाने में रहते थे, इस कार्य में मुझे अधिक प्रोत्साहित किया है। वे अपने दैनिक समय की असुविधाओं की लेशमात्र भी परवाह न कर मेरे द्वारा प्रतिदिन लिखे जानेवाले अक्षरों को सुनने के लिये अवश्य ही अपने निर्धारित समय पर मेरे पास पहुँच जाते थे, और अगले अक्षरों को सुनकर परम सन्तुष्ट होते थे। मेरे एक मित्र साहित्य-शास्त्री श्रीरघुनाथप्रसादजी चतुर्वेदी भी, जिनने इस टीका का भाषानुवाद लिखा है, उनदिनों नन्दगांव के एक संस्कृत-विद्यालय में अध्यापन कार्य करते थे, और कभी-कभी मेरे पास आकर मेरे इस लेखन-कार्य में उत्साह बढ़ाते हुए इसे बड़े चाव से सुनते थे।

इस प्रकार विद्यालय का अध्यापनकार्य तथा अपना परीक्षा का कार्य करते हुए मुझ-जैसे चिररुग्ण व्यक्ति द्वारा अति स्वल्प

समय में जैसी भी कुछ लिखी जा सकती थी, यह टीका विज्ञ विद्वानों के समक्ष है। इस स्वल्पकाय कृति में मैं सांप्रदायिक तत्त्व का विवेचन करने में कितना सफल हुआ हूँ, इसका निर्णय वही करेंगे जो सांप्रदायिक तत्त्व के मर्मज्ञ हैं।

अन्त में मैं सेठ श्रीवल्लभदास सेवकरामजी की भी सराहना किये बिना नहीं रह सकता, जिनने इस टीका के प्रकाशनकार्य में अपनी १००) की पुनीत आर्थिक सहायता प्रदान कर अपनी उदारता एवं गुणग्राहकता का परिचय दिया है। साथ ही साहित्याचार्य श्रीपुरुषोत्तमशर्मा जी चतुर्वेदी की मैं किन शब्दों में प्रशंसा करूं, जिनके समीप इसने चिरकाल तक निवास कर यन्त्रस्थ होने का सुन्दर सुयोग पाया है। इस सामान्य कृति को भगवदर्पण करता हुआ विज्ञ विद्वानों से आशा करता हूँ कि यदि उन्हों ने इसके एक भी मन्त्र पर समुचित दृष्टिपात किया तो निश्चय ही मेरा श्रम सफल होगा।

—लेखक



एक परिचय

ईशोपनिषद् के व्याख्याकार से मेरा परिचय लगभग पन्द्रह वर्ष से है। जब श्री श्रीजी के सान्निध्य बरसाना में प्रेमसरोवर पर इनकी लेखनी द्वारा इस पुनीत व्याख्या के लिखने का श्रीगणेश हुआ था, मुझे उसी समय इसके सुनने का सौभाग्य मिला था। बाद में इसका भाषानुवाद हुआ, किन्तु सब तयारी होने पर भी उस समय इसके प्रकाशन का कार्य किसी कारण-वश स्थगित रहा।

आज बहुत समय बीत जाने पर इसके लेखक श्रीपंडित जी का मुझे एक पत्र मिला, जिसमें इस टीका के प्रकाशन का संवाद था। जिसे पढ़कर मुझे अपार हर्ष हुआ। इस पत्र में व्याख्या का सामान्य परिचय कराने के लिये मुझे कुछ लिखने का संकेत था। मैंने सोचा, क्या लिखूं, किन्तु शौनक के प्रश्नमात्र ने जिस प्रकार पौराणिक सूतजी के हृदय में शक्तिका संचार किया था, उसी तरह श्रीपण्डित जी के पत्र ने मेरी लेखनी में उत्साह पैदा किया। बहुत दिनों की सुनी हुई और तत्काल देखी हुई घटनाओं में अवश्य ही कुछ तारतम्य रहता है। इसीलिये टीका के परिचय के रूप में मैं जो कुछ लिख रहा हूं, इसे विचार कर जहां-वहां मेरी कुछ न्यूनता और शिथिलता ज्ञात हो विज्ञ विद्वान् उसे पूर्ण और विषय से सम्बद्ध करके ही ग्रहण करेंगे।

वेद स्वयं ही प्रमाण माने जाते हैं। समय परिवर्तन से जैसे-जैसे लोगों की प्रतिभा शक्ति का ह्रास होता गया, वैसे वैसे दुर्बोध पदार्थों का बोध कराने के लिए सरल-सरल उपायों के उपयोग का आदर किया जाने लगा। श्रीमद्भागवत वेद का ही विस्तृत रूप है। वेद को वृक्ष और श्रीमद्भागवत को उसका रसमय फल कहा है। ईशोपनिषद् में जो कुछ वर्णन है, वह श्रीमद्भागवत में स्पष्टरूप से वर्णित है। टीकाकार ने अपनी टीका में

इसी बात को बड़े स्पष्ट रूप में बतलाने का स्तुत्य प्रयास किया है।

वेद में एकमात्र ज्ञातव्य पदार्थ आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण हैं। इनकी प्राप्ति का अतिसरल उपाय एकमात्र भगवत्सेवा है, कृति नहीं। सेवा तनुजा, वित्तजा और अहैतुकी होनी चाहिये, जो गोपीजनभावभरित एवं उनकी भक्ति से युक्त हो। गोपीजनों का भाव किस प्रकार हो यह बात ईशोपनिषद् के अन्तिम मन्त्रों में बड़े स्पष्टरूप में बतलाई गई है। वास्तव में गोपीजनों का भगवद्विषयक भाव एक अलौकिक अग्नि है। इस अग्नि को अलौकिक इसलिये कहा है कि लौकिक अग्नि समीप रहने पर दाह तथा दूर रहने पर शान्ति करती है, किन्तु यह समीप रहने पर परमशान्ति और सुख एवं दूर रहने पर विरहजनित संताप पैदा करती है।

यही बात श्रीमद्भागवत में "तेजस्कामो विभावसुम्" स्थल पर श्रीसुबोधिनीकार ने लिखी है—"अतः स्वयोग्यतासिद्ध्यर्थं तेजोऽपेक्षितम्। तद्धि सर्वाभिभावकं सर्वमेव रूपं स्वसमानं करोति तद् भगवन्निष्ठमेव वह्निना प्राप्तम्, विशेषेण भा दीप्तिः वसुर्धनं यस्येति विभावसुशब्दनिर्वचनात्। अतस्तेजस्कामो विभावसुमेव सेवेत।"

अंग्रेजी-साहित्य से प्रभावित व्यक्ति भारतीय-साहित्य की उन सभी बातों को स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं जिनका अंग्रेजी-साहित्य में उल्लेख नहीं हुआ, अतः उनके लिये भी कुछ समन्वय उचित है। भारतीय साहित्य में जिसे विज्ञान कहते हैं English साहित्य के (Hermetic philosophy) हर्मेटिक दर्शन में उसे सुपर साइंस (Super science) अर्थात् आध्यात्मिक विज्ञान कहते हैं। तथा पाश्चात्त्य भौतिक विज्ञान (Mundane Science) कहता है कि संसार की प्रत्येक वस्तु विद्युत्-शक्ति का ही रूपान्तर है। (Every thing is a gossamer

of electric forces) भारतीय साहित्य में इसी electricity का पर्यायवाचक शब्द तेज है। जिस व्यक्तित्व में इस तेज का जितना अधिक संग्रह होगा वह संसार में उतना ही अधिक समृद्ध एवं समुन्नत समझा जायगा। (Conserver of heat will be considered as the wealthiest of Person in the world is associated with this idea)। जगद्रचयिता भगवान् ब्रह्मा जी ने इसी तेज (अग्नि) का आश्रय करके जगत् की रचना की थी, किन्तु उन्हें इसका ज्ञान भगवान् के साक्षात्कार तथा उनके साथ वार्तालाप होने के बाद स्वयं भगवान् द्वारा ही हुआ था।

सब धर्मों की उत्पत्ति भगवान् के साक्षात् आनन्दमय विग्रह से ही है। समस्त धर्म भगवत् स्वरूप का उतना ही निरूपण कर सके हैं, जितना जिनकी समझ में आया है। वास्तव में भगवत्स्वरूप "इदमित्थं" से परे है तथा समस्त धर्म विवाद, मतभेद, कलह और शोध से पूर्ण हैं, यह इतिहास से स्पष्ट है। ऐसा किस लिए है ? इसका कारण उस अग्नि (तेज) का तिरोहित रहना ही है। उसके प्रकट हो जाने के बाद सर्वत्र आध्यात्मिक वातावरण बन जाता है, समस्त उपद्रव शान्त हो जाते हैं, एक स्वर्णयुग दिखलाई देने लगता है, तथा जिस प्रकार 'पेरीक्लियन युग' में सच्चे भक्त और प्रेमी को अदृष्ट शक्ति पुरस्कार देने के लिये प्रस्तुत रहती है, उसी प्रकार वह अग्नि (तेज) भी अपने-अपने आश्रय करनेवाले की समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण कर देता है। Spiritual atmosphere will be created–no quarrels –no fighting, but a golden age will be seen, such as periclean where unseen waits to reward the true lover and devotee.

लेखक—
वैष्णव तुलाराम
बरसाना

कुछ आवश्यक

प्रमाणमूर्धन्य वेदों के उत्तरकाण्डरूप उपनिषदों की शुद्धाद्वैत-सिद्धान्तानुसार व्याख्याएं बहुत कम हैं। श्रीमहाप्रभुजी और श्रीगुसांईजी के भाष्य अथवा विवरण तो, संभवतः, लिखे ही नहीं गये, किन्तु अन्य आचार्य महानुभावों ने भी इस विषय पर लेखनी-संचालन नहीं किया।

पण्डितप्रकाण्ड दश-दिगन्तविजयी गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तम-जी महाराज का भी सारा जीवन, प्रतीत होता है, केवल श्रीमहा-प्रभुजी के ग्रन्थों की व्याख्या में ही समाप्त हो गया। वे वास्तव में इस विषय में अधिकारी आचार्य थे, किन्तु उपनिषदों की एकमात्र व्याख्या वे लिख पाये—'नृसिंहतापनीयदीपिका', जिसकी उनने 'न विलक्षणत्वाधिकरण' (ब्र० सू० २-१-४) में तथा अन्यत्र भी चर्चा की है। उसके बाद आचार्यों में से नडियाद और जामनगर की गद्दियों पर अधिष्ठित श्री अनिरुद्धलाल जी महाराज ने 'गोपालतापनीय' की व्याख्या की है। बस, आचार्यों द्वारा लिखित ये ही दो व्याख्याएं हैं, पर ये भी प्रसिद्ध दश अथवा एकादश उपनिषदों में से किसी पर नहीं हैं।

आचार्यातिरिक्त अन्य विद्वानों में भी इस ओर प्रयास अल्प ही प्रतीत होता है। प्राचीन व्याख्याओं में तो एकमात्र तैत्तिरीयो-पनिषद्' के एक भाग पर मठपति श्रीजयगोपालभट्टजी की व्याख्या है। इधर विद्वानों में भारतमार्तण्ड पण्डितप्रवर श्रीगट्टूलालाजी की व्याख्या कठोपनिषत् पर प्राप्त है, पर वह भी अधूरी ही है। हमपर परम स्नेह करनेवाले वयोवृद्ध सुहृद् गो० वा० पं० श्रीरमानाथजीभट्ट ने 'छान्दोग्योपनिषद्' पर कुछ लिखा, पर वह प्रयास भी अधूरा ही रहा।

प्रकृत उपनिषद्

यह तो हुई अन्य उपनिषदों की बात। अब प्रकृत उपनिषद् 'ईशावास्य' की बात लीजिए। इस पर शुद्धाद्वैतसंप्रदायानुसार, अब तक, हमने तीन व्याख्याएं देखी हैं।

प्रथम व्याख्या जो हमारे देखने में आई वह गोस्वामिप्रवर नडियाद-निवासी श्रीअनिरुद्धलाल जी महाराज के आश्रित पण्डित श्रीमोहनलाल जी द्वारा प्रणीत थी, जिसे, आज से लगभग २० वर्ष पूर्व, लेखक ने स्वयम् हमें दिया था। पता नहीं, अब वह प्राप्त है अथवा नहीं। हमारा जहाँ तक अनुमान है, व्याख्या संक्षिप्त, सरल और सुन्दर है, पर इस समय वह पुस्तक हमारे पास न होने से प्रकृत व्याख्या के साथ उसकी तुलना करने में हम असमर्थ हैं।

दूसरी व्याख्या हमारे संमान्य सुहृत् भट्ट श्रीबलभद्रलालाजी की है, जिसकी चर्चा स्वयं लेखक ने भी अपने 'वक्तव्य' में की है। इस व्याख्या पर कांकरोली से जो पुरस्कार मिला था, उसके निर्णायकों में हम भी अन्यतर अथवा अन्यतम थे। यह व्याख्या बहुत विस्तृत हो गई है। साधारण तत्त्व-जिज्ञासु इससे कदाचित् ही लाभ उठा सकें।

प्रकृत व्याख्या

तीसरी व्याख्या यह है, जो पाठकों के सामने है। व्याख्या-लेखक ने इस बात का पूरा ध्यान रक्खा है कि भगवदनुग्रहै-कलभ्य पुष्टिपथ के पथिक इस व्याख्या से यथार्थ लाभ उठा सकें। अतः इस छोटी-सी उपनिषत् में उनने 'निश्चिन्तता' से लेकर 'आचार्याश्रय' पर्यन्त सभी सिद्धान्तों को इस व्याख्या द्वारा समझाने का प्रशंसनीय प्रयास किया है।

प्रथम मन्त्र में—भोजनाच्छादनविषयक चिन्ता के त्याग

और भगवत्प्रसादरूप में प्राप्त वस्तु से निर्वाह,

द्वितीय मन्त्र में—भगवत्परितोषार्थ कर्मकरण,

तृतीय मन्त्र में—भगवद्गुणानुवाद में विरक्ति (प्रेमाभाव) का फल

चतुर्थ मन्त्र में—भगवत्स्वरूप और अन्याश्रयत्याग,

पञ्चम मन्त्र में—भगवान् की विरुद्धधर्माश्रयता,

छठे मन्त्र में—परब्रह्म की विरुद्धधर्माश्रयता जान लेने से सकलसंशयोच्छेद,

सातवें मन्त्र में—सकल संशयोच्छेद हो जाने पर विरहावस्था से सर्वात्मभाव द्वारा शोक-मोह-नाश,

आठवें मन्त्र में—विरह में ब्रह्म-साक्षात्कार,

नौवें मन्त्र में—जो कर्म भगवत्प्रीत्यर्थ नहीं होते उनकी अनर्थकारिता,

दशवें मन्त्र में—भगवत्सबन्धी ज्ञानकर्म के फल की अलौकिकता,

ग्यारहवें मन्त्र में—भगवत्संबन्धी ज्ञानकर्म के फल का स्वरूप—अमृताशन,

बारहवें मन्त्र में—भगवद्धर्मों में संभव-असंभव का पचड़ा लगानेवालों का फल—अन्धन्तमः प्रवेश,

तेरहवें मन्त्र में—भगवत्स्वरूप की संभव-असंभव से परता,

चौदहवें मन्त्र में—असंभव का फल—संसारतरण और संभव का फल—अमृताशन,

पन्द्रहवें मन्त्र में—व्रजाङ्गनाओं की भावना से भावित विरहानुभव का निरूपण,

सोलहवें और सत्रहवें मन्त्रों में—विरहकालिक फलावस्था के अनुभव का अनुभवित्रिता के मुख से वर्णन, और

अन्तिम मन्त्र में—भगवद्वदनानलावतार श्रीमदाचार्यचरण की प्रार्थना,

इन विषयों का निरूपण है। इस तालिका से मार्ग के मर्मज्ञ वैष्णव तथा विद्वान् समझ सकेंगे कि व्याख्या में सिद्धान्तों का किस प्रकार निरूपण हुआ है।

ऐसी दशा में हमें यह कहते संकोच नहीं है कि लेखक का श्रम सफल हुआ है। जिस दृष्टि से यह व्याख्या लिखी गई है वह लेखक की पुष्टिमार्ग की मर्मज्ञता, शुद्धाद्वैतसिद्धान्त की अभिज्ञता और शास्त्रीय विवेचनापद्धति को यथार्थरूप में सूचित करती है।

यद्यपि इस व्याख्या में शब्दों को तोड़मरोड़कर क्लिष्ट कल्पना का प्रयास नहीं किया गया है तथापि दोषज्ञों को कहीं-कहीं यदि कोई नवीन कल्पना दिखाई दे, जैसे 'अपो मातरि' का अर्थ 'अब्धौ' इत्यादि। तो यह सह्य है, क्योंकि 'अपो मातरिश्वा दधाति' का अन्य टीकाकारों ने जो अर्थ किया है वह भी जटिल ही है।

आशा है, भगवद्भक्त विद्वान् लोग मात्सर्यरहित दृष्टि से इसका निरीक्षण-परीक्षण कर आनन्दित ही होंगे। मुझे लेखक की ओर से प्रार्थना करनी चाहिए कि—

नात्रातीव प्रकर्त्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः।
दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते ॥

इत्यलमतिपल्लवितेन।

पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी
भू. पू. धर्म-संस्कृतविभागाध्यक्ष, मेयो कालेज, अजमेर
तथा
वर्त्तमान—श्री काशीनरेश-प्रकाशनादि-विभागाध्यक्ष,
रामनगर (काशी)

हरिः ॐ

❀ श्रीकृष्णाय नमः । ❀

मायावादाख्यतूलाग्नये नमः ।

पितृप्रवर्त्तितपथप्रचारसुविचारकाय नमः ।

व्याकरणाचार्य-शुद्धाद्वैतलब्धवर्ण-श्रीवल्लभ-पुष्टि-
पाठशालाव्यवस्थापक—

पण्डितसवलकिशोरचतुर्वेदप्रणीत-

पुष्टिमार्गप्रपा-

ख्यव्याख्योपेता, साहित्यशास्त्रि-

पंडितरघुनाथप्रसादचतुर्वेदविरचित-

भाषान्तरसहिता च

ईशावास्योपनिषत्

यत्कृपालवलेशेन मतिस्तद्विषयाऽभवत् ।
भक्त्या नौमि गुरुं देवं गोस्वामिपुरुषोत्तमम् ॥ १ ॥
विद्यागुरुमहं वन्दे परमानन्दविग्रहम् ।
श्रीवरं परमोङ्कारं तन्वानं मुरलीधरम् ॥ २ ॥
मातापितृकृपां नुत्वा विद्यां च सबलोऽल्पधीः ।
किशोरस्तनुते व्याख्यामीशोपनिषदो हरेः ॥ ३ ॥
वैष्णवाः पुष्टिमार्गीयास्तादृशास्तत्परात्मकाः ।
तदीयत्वेन पूर्णार्थाः प्रसीदन्तु मदुक्तितः ॥ ४ ॥

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥

अथात ईशोपनिषदं व्याख्यास्यामः । ईष्ट इतीट् तेनेशा ।

सर्वभवन-सर्वकरण-समर्थेन जगदीश्वरेण श्रीपुरुषोत्तमेन । **जगत्याम्** "स वै नैव रेमे स द्वितीयमैच्छत्" इति श्रुत्या स्वरमणार्थमाविर्भाविताया त्रिलोक्याम् । **इदमिदन्त्वावच्छिन्नमङ्गुल्या निर्देशाहम्** । **सर्वं** सकलम् । **यत्किञ्चानिर्देशार्हञ्च** । **जगत्** गच्छति तिरोधत्त इति व्युत्पत्त्याविर्भावतिरोभावशीलमस्ति तत् । **वास्यं** वासयितव्यं वास्तविकीं सत्तां प्रापयितव्यमित्यर्थः । निवासार्थाण्ण्यन्ताद्वसेः कर्मणि ण्यति सिद्धत्वात् । णिजर्थप्रेरणाश्रयत्वस्य चेशनिष्ठत्वात् । अयं भावः । भगवतोऽजस्रक्रीडत्वात्तत्क्रीडनसदनघटकं तेनैव वासितं सम्यक् सत्तां प्रापितं जगत् सत्यम् । यद्वा, वास्यमाच्छादनीयमपेक्षितवस्त्रादिनेति शेषः । आच्छादनञ्च भोजनस्याप्युपलक्षकम् । तथा च—

"भोजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः ।
यो हि विश्वम्भरो देवः स भक्तान् किमुपेक्षते ॥"

इति सूक्तिः संगच्छते । यद्वा, तिरोधानीयमित्यर्थः । आच्छादनस्यावरणरूपतिरोधानार्थकत्वप्रसिद्धेस्तिरोधानस्य चाविर्भावपूर्वकत्वाज्जगत आविर्भावतिरोभावशीलत्वं प्रतिपादयितुमिष्टम् । अयं भावः—अचिन्त्यानन्तशक्तेर्भगवत आविर्भावतिरोभावात्मिके प्रधाने शक्ती, ताभ्यां जगद्विलास इति ।

यत्तु आच्छादनस्य बाधनार्थकत्वं प्रकल्प्य जगतोऽनित्यत्वं मन्त्रेण सिसाधयिषन्ति तच्चिन्त्यम्, तस्य तादृशार्थकत्वाप्रसिद्धेस्तिरोधानार्थकत्वस्यैव प्रसिद्धेश्च ।

तेन श्रीपुरुषोत्तमेन । **त्यक्तेना**नुकम्प्य स्वोच्छिष्टतया दत्तेन **भुञ्जीथा** भगवत्सेवोपयोगिशरीरनिर्वाहार्थं प्राणयात्रां कुरु ।

यत्तु जगतोऽनित्यत्वेन तस्मिंस्त्यक्तत्वं कल्पयन्तः "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" इति मन्त्रांशं 'त्यागेन पालयेथाः" इत्याशयकं वर्ण-

यन्ति, तच्चिन्त्यम्, भगवल्लीलासदनस्य जगतो नित्यत्वात् । किञ्चोपक्रमे 'त्यक्त' शब्दस्य कर्मविशेष्यकबोधप्रयोजकत्वमभ्युपगम्य मन्त्रस्थस्य तस्य भावविशेष्यकबोधप्रयोजकत्वाङ्गीकारे वैरूप्यप्रसंगात्, पालनेऽर्थे आत्मनेपदालाभाच्च । अस्मदुक्तदिशा सामञ्जस्ये सति अगतिकगतिकस्य च्छान्दसत्वाश्रयणस्यायुक्तत्वाच्च ।

कस्यस्विद् राजादेः, धनम्—तन्निरूपितस्वत्वाश्रयीभूतमिति ।

मा गृधः माऽभिकाङ्क्षीः । इदमाकूतम्—राजादिनिरूपितस्वत्वाश्रयत्वप्रकारकज्ञानस्याभिकाङ्क्षणस्य वाऽविद्यारूपत्वात्तन्निवृत्तिरपेक्षिता, सा च तदुच्छिष्टभोजनेनैवेति चतुर्थतृतीयपादयोः प्रयोज्यप्रयोजकतारूपः संसर्ग इति । एतेन—

"उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि ॥"

इत्युद्धवोक्तिरपि संगच्छते । एवञ्च—

"लीलार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते
स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः ॥"

इति विन्ध्यावल्युक्तिरेतत्सिद्धार्थानुवादिकैवेति ध्येयम् ॥१॥

भाषा

ईशा=सर्वरूप होने एवं सब करने में समर्थ जगदीश्वर श्रीपुरुषोत्तम द्वारा

("स वै नैव रेमे स द्वितीयमैच्छत्" इस श्रुति के अनुसार, अपने रमण के लिये प्रकट की गई)

जगत्यां=त्रिलोकी में

इदं सर्वं=अंगुली से निर्देश किये जाने योग्य अर्थात् प्रत्यक्ष दृश्यमान यह सब, और

यत्किञ्च=न निर्देश किये जाने योग्य जो कुछ सूक्ष्म

जगत्=आविर्भाव-तिरोभावशील(प्रत्यक्ष होकर छुप जाने वाला) (है वह)

वास्यं=वास्तविकी स्थिति को प्राप्त करवाने योग्य है। ("वास्यं" यह शब्द निवासार्थक ण्यन्त वस् धातु से कर्म में 'ण्यत्' प्रत्यय होने पर सिद्ध होता है। वस् धातु से होने वाले णिच् प्रत्यय का अर्थ है प्रेरणा और उसका आश्रय ईश्वर ही है।

सारांश यह है कि निरन्तर क्रीड़ा करनेवाले भगवान् श्री पुरुषोत्तम के क्रीड़ास्थल का अवयव, उसके द्वारा अच्छी तरह स्थिति को प्राप्त किया गया जगत् सत्य है। अथवा भोजन-वस्त्र आदि अपेक्षित वस्तुओं के प्रदान से रक्षा करने योग्य है। जैसा कि,

"भोजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः।
यो हि विश्वम्भरो देवः स भक्तान् किमुपेक्षते।"

इस वचन से समर्थित है।) (अथवा)

तिरोहित करने योग्य है। आच्छादन का आवरणरूप तिरोधान अर्थ ही अधिक प्रसिद्ध है। तिरोधान आविर्भाव- पूर्वक होता है, अतः जगत् आविर्भावतिरोभावशील है, यह प्रतिपादन करना अभीष्ट है।

सारांश यह है कि अचिन्त्यानन्तशक्तिसम्पन्न श्रीपुरुषोत्तम की आविर्भावतिरोभावात्मिका दो प्रधान शक्तियाँ हैं, उनसे जगत् का आविर्भाव तिरोभाव हुआ करता है।

जो किसी आचार्य ने आच्छादन का अर्थ बाधन मानकर मन्त्र से जगत् की अनित्यता सिद्ध करने की चेष्टा की है, वह विचारणीय है। आच्छादन का बाधन अर्थ प्रसिद्ध नहीं है, तिरोधान अर्थ ही प्रसिद्ध है) (इसलिये)

तेन=उन श्रीपुरुषोत्तम के द्वारा

त्यक्तेन=कृपाकर अपने उच्छिष्ट रूप से दिये गये पदार्थ से

भुञ्जीथाः=भगवत्सेवोपयोगी शरीर-निर्वाह के लिये प्राणयात्रा कर।

(जो विद्वान् जगत् को अनित्य मानकर उसके त्याग की कल्पना करते हुए "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" इस मन्त्रांश का अर्थ "त्याग से पालनकर" ऐसा वर्णन करते हैं, वह विचारणीयहै, क्योंकि भगवान् का क्रीडास्थल जगत् नित्य है। दूसरी बात यह है कि प्रारम्भ में त्यक्त शब्द को कर्मविशेष्यक बोध का प्रयोजक मानकर मन्त्र में प्रयुक्त उसी त्यक्त शब्द को भावविशेष्यक बोध का प्रयोजक मानने में विरूपता है। साथ ही पालन अर्थ में आत्मनेपद भी नहीं मिलता। जबकि उक्तरीत्या सुखपूर्वक निर्वाह हो जाता है, तो अगतिक गतिछान्दसत्व का आश्रयण भी अयुक्त ही है।]

कस्य स्वित् = किसी राजा आदि का

धनम् = धन (जिसे उसने अपना मान लिया हो)

मा गृधः = मत चाह।

(अभिप्राय यह है कि अपने अधिकार में आए हुए धन के विषयमें यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ, राजा सेठ आदि का यह ज्ञान या दूसरे पुरुष की उसमें यह अभिलाषा कि यह मुझे मिल जाय अविद्यारूप हैं। इसकी निवृत्ति अपेक्षित है और निवृत्ति श्रीपुरुषोत्तम के उच्छिष्ट-भोजन से ही संभव है।

"उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि"

इस उद्धव के कथन से भी यही बात समर्थित है।

"लीलार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते।
स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः॥

यह विन्ध्यावली की उक्ति इस सिद्ध अर्थ का अनुवाद मात्र करती है—ऐसा ध्यान रखना चाहिये) (इस मन्त्र में चौथा पाद प्रयोज्य और तीसरा प्रयोजक है)॥ १॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

"न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" इति भगवदुक्तदिशा कर्माचरणस्य स्वभावनिघ्नतया त्यक्तुमशक्यत्वाद् भगवत्प्रीत्यर्थत्वेनाचर्यमाणैः सेवापरपर्यायैः कर्मभिरेव कर्मनिर्हार इत्याह मन्त्रः—

इह प्रभुक्रीडाभाण्डे जगति, **कर्माणि** "तत्कर्म हरितोषं यत्" इत्युक्त्या प्रभुप्रीतिप्रयोजनकानि सेवापरपर्यायाणि कर्माणि, **कुर्वन्नेव शतं समा जिजीविषेत्**, "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इति द्वितीया, जीवितुमिच्छेत्।

अयं भावः "व्यशेमहि देवहितं यदायुः" इति श्रुतेर्यावज्जीवनमहं प्रभुसेवापरो भवेयमिति कामनाऽपेक्षिता, न तु तदतिरिक्तफलविषया। सेवाया एव फलत्वादित्येव 'एव' पदस्वारस्यम्।

"शतायुर्वै पुरुषः" पुरुषार्थश्च तदायुषानुष्ठेय इत्युक्तं **शतं समा** इति। पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोऽर्थो हरिरेव हि कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद्ध्रुवमिति कारिकोक्तदिशा पुरुषार्थस्य रूपविचारोऽन्यत्र द्रष्टव्यः। **एवमित्थम्भूते** भगवत्प्रीत्यर्थं कर्म कुर्वाणे **त्वयि नरे** जगदीश्वरपुरुषे भगवद् भृत्य इति यावत्। **कर्म** शुभाशुभफलजनकत्वेन बन्धनात्मकं, **न लिप्यते**। **इतः** = अस्मात्प्रकारादन्यथा प्रकारान्तरं **नास्ति**। कर्मनिर्हारायेति शेषः ॥ २ ॥

भाषा

"नहि काश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ॥"

भगवद्गीता में कहे गये इस भगवद्वचन के अनुसार कर्मों का करना स्वाभाविक है, उनका किसी भी अवस्था में त्याग नहीं किया जा सकता, किन्तु श्रीपुरुषोत्तम की प्रसन्नता हेतु किये गये सेवारूप कर्मों

से पुरुष को नैष्कर्म्य (मोक्ष) की प्राप्ति हो सकती है। यह इस मंत्र में कहा गया है—

इह=(प्रभु के क्रीड़ाभाण्ड) इस जगत् में (प्राणी) ("तत्कर्म हरितोषं यत्" इस वचन के अनुसार)

कर्माणि=प्रभु को प्रसन्न करनेवाले सेवात्मक कर्मों को,

कुर्वन्=करता हुआ,

एव=ही,

शतं=सौ,

समाः=वर्ष पर्यन्त

जिजीविषेत्=जीने की इच्छा करे

("शत समाः" इस जगह "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्र से काल के अत्यन्त संयोग में द्वितीया विभक्ति है।)

"व्यशेमहि देवहितं यदायुः" इस श्रुति के अनुसार 'जीवनपर्यन्त मैं प्रभु सेवा में परायण रहूँ' यह कामना अपेक्षित है, इससे अतिरिक्त फल वाली कामना अपेक्षित नहीं, क्योंकि भगवान् श्रीपुरुषोत्तमको सेवा फलरूप ही मानी गई है—यह 'एव' पद का आशय है।)

"शतायुर्वै पुरुषः" "पुरुषार्थश्च तदायुषानुष्ठेयः" पुरुष की सौ वर्ष की आयु है, पुरुष को उस आयु से पुरुषार्थ (धर्म-अर्थ, काम, मोक्ष, इस चतुर्वर्ग) का अनुष्ठान करना चाहिये यह बात "शतं समाः" पद से बतलाई गई है।)

एवम्=इस प्रकार भगवान् की प्रसन्नता के हेतु कर्म करनेवाले

नरे=जगदीश्वर के भक्त

त्वयि=तुझ पर

कर्म=शुभ अशुभ फल के पैदा करनेवाला बन्धनरूप कर्म

न=नहीं,

लिप्यते=लिप्त होता।

(नैष्कर्म्य प्राप्ति के लिये),

इतः=इस प्रकार से,

अन्यथा = दूसरा कोई प्रकार
न = नहीं
अस्ति = है ॥ २ ॥

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

श्रीपुरुषोत्तमस्य माहात्म्यमज्ञात्वा तत्प्रीत्यर्थं कर्माकरणे बलवदनिष्टप्राप्तिमाह—

असुषु प्राणेषु रमन्त इत्यसुराः प्राणमात्रतर्पणोद्योगास्तेषां स्वभूता **असुर्या नाम** प्रसिद्धास्ते **लोका** लोक्यन्तेऽनुभूयन्ते कर्मफलानि येषु तादृशास्तिर्यगादिदेहा नरकादिलोका वा । **अन्धेन** भगवन्माहात्म्याज्ञानात्मकेन **तमसा**ऽहन्ताममतालक्षणेना-**वृतास्तान्** लोकान् **प्रेत्य** प्राणांस्त्यक्त्वा**भिगच्छन्ति** कर्मानुसारेण पुनः पुनः प्राप्नुवन्ति । प्राणपोषणार्थं सततोद्योगा अपि पुनः पुनः प्राणत्यागमनुभवन्तः संसरन्तीति यावत् ।

तेषां स्वरूपमाह = **ये के चात्महनो जना** इति । जनेष्वात्महन्तृत्वं नाम "क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्पुमान्विरज्येत विना पशुघ्नात्" इति विष्णुरातोक्तेर्भगवद्गुणानुवादाद् विराग एव । स एवासुरत्वम् । एवञ्च "इमं लोकं हीनतरं विशन्ति" इतिश्रुतिः "मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम्" इति स्मृतिश्च संवदेते । महन्मुखनिःसृतभगवद्गुणश्रवणप्रयोज्यतन्माहात्म्यज्ञानपूर्वकं तत्प्रीत्यर्थं कर्माचरणं व्यतिरेकेण बोध्यत इति निष्कर्षः ॥ ३ ॥

भाषा

श्रीपुरुषोत्तम के माहात्म्य को बिना जाने, एवं उनकी प्रसन्नता के हेतु कर्मों के न करने में महान् अनिष्ट की प्राप्ति है, उसे इस मन्त्र से बताते हैं—

असुर्याः = प्राणमात्र के तृप्त करने में सतत प्रयत्नशील असुरों की सम्पत्तिरूप 'असुर्या'

नाम = नाम के

ते = वे

लोकाः = कर्मफलों को भोगने के लिये बनाये गये पशु-पक्षियों के देह या नरकादि लोक

अन्धेन = भगवान् के महात्म्यज्ञान से वञ्चित रहनेवाले

तमसा = अहन्ता ममतारूप अन्धकार (अज्ञान) से

वृताः = पूर्ण (भरे हुए) हैं।

तान् = उन

लोकान् = लोकों में

ते = वे (प्राणी)

प्रेत्य = मरकर

अभिगच्छन्ति = (कर्मफलों के अनुसार) बार-बार जाते हैं (अर्थात् प्राणपोषण के लिये निरन्तर प्रयत्नशील भी बार-बार प्राणत्याग का अनुभव करते हुए विचरते हैं)

ये = जो

के च = कोई

आत्महनः = आत्मा का हनन करनेवाले

जनाः = प्राणी हैं।

"क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्"

राजा परीक्षित के इस वचन के अनुसार उत्तमश्लोक भगवान् श्रीपुरुषोत्तम के गुणानुवाद से विरक्ति ही आत्महनन है, और आत्मा का हनन ही असुरत्व है।

("इमं लोकं हीनतरं विशन्ति ।" "मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम् ।" ये श्रुति-स्मृतियों के वाक्य भी इसी बात को एक

स्वर से कहते हैं। निष्कर्षरूप में महात्माओं के मुख से निकले भगवान् पुरुषोत्तम के गुणानुवाद के सुनने से उत्पन्न उनके माहात्म्यज्ञान के साथ-साथ उनकी प्रीति के लिये कर्म करना ही यहां प्रकारान्तर से बताया गया है) ॥ ३ ॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् (र्शत्)। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

यत्प्रीत्यर्थकर्माकरणे बलवदनिष्टप्राप्तिस्तत्स्वरूपमाह तन्माहात्म्यज्ञानाय—

न एजति न चलति स्वावस्थातः प्रच्युतं न भवतीत्यनेजत् अच्युतम् । स्वावस्थातः प्रच्युतिर्नाम अवस्थान्तरसम्भेदः, स च ब्रह्मणो मायाशबलितत्वे दुष्परिहर इति तस्य मायानवच्छिन्नत्वमिह प्रतिपिपादयिषितम् । एकमद्वितीयम्, स्वस्यैव सर्वरूपत्वात् । मनसो मनोऽपेक्ष्य । ल्यब्लोपे पंचमी । जवीयः जवो वेगोऽस्यास्तीति जववदतिशयेन जववदिति जवीयः । ईयसुनि मतोर्लुक् । संकल्पात्मनो मनसो वेगवत्त्वं प्रसिद्धम् । ततोऽपि वेगवत्तरत्वं ब्रह्मणः श्रीपुरुषोत्तमस्य । तच्च स्वभृत्यकृतस्वविषयकचिन्तनसमानकालिकप्रादुर्भावप्रतियोगित्वरूपम् ।

देवा ब्रह्मेन्द्राद्या एनत् ब्रह्म नाप्नुवन् ब्रह्मकर्तृकवरणाभावात् साकल्येन नाविदन् । "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" इति श्रुतेः साकल्येन वित्तिस्त्वनन्यभक्तानामेव ।

"भक्त्याहमेकया ग्राह्यो यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः"

इति श्रीमुखोक्तेः । भक्तिश्च लोकवेदविषयकमतिहानपूर्वकभगवच्चरणानुरागात्मा तत्कृतवरणाधीना ।

"यदायमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः ।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥"

यद्वा, देवा द्योतमानाश्चक्षुरादयः प्राकृतेन्द्रियादय इत्यर्थः। आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरसमयविग्रहस्य तस्यालौकिकैरेवेन्द्रियैर्ग्राह्यत्वात्। पूर्वं सर्वकारणकारणम्। अर्षदिति गच्छतीत्यर्षत् सर्वज्ञम्। ऋषेर्गत्यर्थकत्वेन ज्ञानार्थत्वात्। ज्ञानं विना कृतेरसम्भवाद्युक्तं सर्वकारणकारणस्य सर्वज्ञत्वम्। अर्शदिति पाठे तु अहिंसकमित्यर्थः परमदयालुमिति यावत्। हिंसार्थकाद् रिशधातोः शतरि च्छान्दस इकारलोपे नञ्समासेन सिद्धत्वात्। तस्मिन्ननुग्रहमार्गे तिष्ठत् स्वभृत्यरक्षणाय बद्धकटिकत्वेन स्थितम्, "पुष्टिमार्गे स्थितो यस्मात्" इति स्वाचार्योक्तेः। अन्यान् प्राकृतान् ब्रह्मेन्द्रादिदेवान् धावतोऽनुसरतः भजत इति यावत्। अत्येति अतिक्रामति तल्लब्धं न भवतीति भावः।

यद्यपि प्राकृतभजनमपि भगवद्भजनमेवान्यत्वासिद्धेस्तथापि तादृशभजनस्याविधिपूर्वकत्वेनानुपादेयत्वमिह मन्त्रेण प्रतिपिपादयिषितम्।

"येप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम्" इति

गीतोक्तेः। अन्यच्च—

"अन्यसम्बन्धगन्धोऽपि कन्धरामेव बाधते" इति।

अप्राकृतनिखिलधर्मरूपमनुग्रहकातरं श्रीपुरुषोत्तमं विहाय प्राकृतान्भजमानानामतीव बालिशत्वमाह—अपो मातरि श्वा दधातीति। अपो जलानि। मातरि, तृन्नन्तमेतत्, मापके अब्धाविति यावत्। श्वा सारमेयः। दधाति धारयति। अन्यान् धावत इति शेषः। यथा हि न शुना कश्चित्समुद्रे धारयितुं शक्यते तथा भगवन्तं विहाय नान्येन भवसिन्धाविति तत्त्वम्। एवञ्च—

"अविस्मितं तं परिपूर्णकामं
स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम्।

विनोपसर्पत्यपरं हिं बालिशः
श्वलाङ्गुलेनातितितर्ति सिन्धुम्"

इति भागवते देवानामुक्तिरेतत्सिद्धार्थानुवादिकैवेति ॥ ४ ॥

भाषा

उन (भगवान्) की प्रसन्नता के लिए, कर्म न करने में महान् अनिष्टकी प्राप्ति हो सकती है, अतः उनका माहात्म्य जानने के लिए, उनका स्वरूप बतलाते हैं—

अनेजत् = अपनी अवस्था से च्युत न होनेवाले—सदा एकरस (अवस्थान्तर को प्राप्त होना ही अपनी अवस्था से प्रच्युति है । ब्रह्मको मायासबलित मानलेने पर उसका परिहार नहीं हो सकता । वह माया से असंवलित है । यहां यही बतलाना अभीष्ट है, क्योंकि समस्त दृश्यादृश्य जगत् भगवद्रूप है ।)

एकम् = अद्वितीय (अकेले)

मनसः = मनकी अपेक्षा

जवीयः = अधिक वेग वाले

संकल्पात्मक मन की वेगवत्ता तो प्रसिद्ध ही है । मन से भी अधिक वेगवत्ता है भगवान् श्रीपुरुषोत्तमकी । मन अपने संकल्पित स्थान पर ही पहुँच सकता है, किन्तु भगवान् श्रीपुरुषोत्तम, भी भक्त जिस क्षण संकल्प करता है, उसी क्षण उसके निकट उपस्थित हो जाते हैं । तात्पर्य यह कि मन संकल्पकर्त्ता के संकल्प के साथ पहुँचता है, पर प्रभु भक्त के संकल्प के समकाल पहुँचते हैं—इसलिये इनकी मन से अधिक वेगवत्ताहै ।)

एनत् = इस परब्रह्म परमेश्वर श्रीपुरुषोत्तम को "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" इस श्रुति के अनुसार—(उसके द्वारा वरण न किये जाने के कारण)

देवाः = ब्रह्मा इन्द्र आदि देवता

न आप्नुवन्=पूर्णरूप से नहीं जान सके।

(भगवान् के अनन्य भक्त अप्राकृत इन्द्रियों द्वारा उसको अच्छी तरह जान सकते हैं। यह बात गीता में भगवान् ने अपने मुख से कही है—

"भक्त्याहमेकया ग्राह्यो यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः" अर्थात् मेरे वास्तविक स्वरूप को पुरुष केवल भक्ति से ही जान सकते हैं। जिस समय पुरुष के अन्तःकरण में भगवच्चरणानुरागरूपा भक्ति उदित होती है उस समय लोकवेदविषयिणी मति का अस्तित्व नहीं रहता, किन्तु यह भक्ति भगवान् की कृपा से ही होती है।

"यदायमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥"

इस पद्य में इसी का समर्थन किया गया है।

(अथवा "देवाः" शब्द का अर्थ है, प्रकाश (ज्ञान) करनेवाली चक्षु आदि प्राकृत इन्द्रिय, वे उस भगवान् श्रीपुरुषोत्तम को जान नहीं सकीं। उस श्रीपुरुषोत्तम के कर, चरण, मुख, उदर आदि सभी अवयव आनन्दमात्र हैं, अतः उसका विग्रह (शरीर) भी आनन्दमय (रसमय) है। उस रसमय (आनन्दमय) विग्रह का ज्ञान अलौकिक (अप्राकृत) इन्द्रियों से ही हो सकता है। प्राकृत इन्द्रियां उसके स्वरूप को नहीं जान सकतीं)

पूर्वम्=सब कारणों के कारण
अर्षत्=सर्वज्ञ
(अर्शत्=अहिंसक परमदयालु)
तत्=वह भगवान् श्रीपुरुषोत्तम

("अर्षत्" यह शब्द गत्यर्थक (ज्ञानार्थक) ऋष् धातु से बनता है। ज्ञान के बिना कृति असंभव है। सब कारणों के कारण उस श्रीपुरुषोत्तम का सर्वज्ञ होना भी युक्त ही है)

("अर्शत्" यह शब्द हिंसार्थक रिश् धातु से शतृच्छान्दस इकार लोप होने पर निष्पन्न होता है)

तस्मिन्=उस अनुग्रह मार्ग (पुष्टिमार्ग) में

"पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात्" इस आचार्योक्ति के अनुसार)

तिष्ठत्=(कमर कसकर) स्थित होने वाले

अन्यान् (प्रति)=प्राकृत ब्रह्मा इन्द्र आदि देवताओं की ओर

धावतः=दौड़ने वाले (अर्थात् उनका भजन करने वाले लोगों को)

अत्येति=प्राप्त नहीं होते ।

(यद्यपि सभी देवताओं के भगवद्रूप होने के कारण (प्राकृतदेवता ब्रह्मा इन्द्र) आदि का भजन भी भगवद्भजन ही है, अतिरिक्त नहीं, तथापि उनका भजन

"येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

इस गीतोक्त भगवद्वचनानुसार अविधिपूर्वक होने के कारण अनुपादेय है । यहां इस मन्त्र से यही बात प्रतिपादन करना इष्ट है, जैसा कि "अन्यसम्बन्धगन्धोऽपि कन्धरामेव बाधते" इस वचन से सुस्पष्ट है)

(अप्राकृत निखिलधर्मरूप अनुग्रहकातर श्रीपुरुषोत्तम को छोड़कर प्राकृतदेवताओं का भजन करनेवालों की अज्ञता बतलाते हैं)

(अन्यान् धावतः)=(अन्यदेवताओं की उपासना करनेवाले उन लोगों को)

अपः=जलों के

मातरि=मापक (माप करने वाले) समुद्र में

श्वा=सारमेय (कुत्ता)

दधाति=धारण करता (रक्षा करता) है ।

(जैसे अथाह समुद्र को पार करने वाले प्राणी को कुचा पार नहीं कर सकता, उसी प्रकार संसार–सागर को पार करनेवाले किसी जीव को प्राकृत देवताओं का आश्रय भी पार नहीं लगासकता, यह भाव है।

"अविस्मितं तं परिपूर्णकामं स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम्।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः श्वलाङ्गुलेनातितितर्ति सिन्धुम्"

देवताओं का यह वचन इस सिद्ध अर्थ का अनुवाद मात्र है ॥४॥

तजेदति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

प्रभुस्वरूपविषयकसकलसंशयोच्छेदाय विरुद्धधर्माश्रयत्वरूपं तन्माहात्म्यमाह—

तद् ब्रह्म **एजति** चलति भक्ततन्त्रत्वेन तन्मनोरथानुरूपावस्थान्तरसम्भेदवद् भवति–इति यावत्। तद्वत्त्वञ्च बन्धमोक्षप्रदत्वेऽपि यशोदादामबद्धत्वम्। शरणदत्वेऽपि दुर्वाससं प्रत्यशरणदत्वम्। सत्यसंकल्पत्वेऽपि कुरुरणे रथाङ्गग्राहित्वम्। जगद्राजराजत्वेऽपि नवनीतचोरत्वमित्यादिकं स्वयमूह्यम्। तदेजत्सदपि ब्रह्म नैजति स्वावस्थातः प्रच्युतं न भवति, विरुद्धधर्माश्रयत्वात्।

तद् ब्रह्म **दूरे** अभक्तानाम्, "विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्" इत्युक्तेः। **तत्** पूर्वोक्तं ब्रह्म **उ** एव **अन्तिके** भक्तानाम्, "विसृजति हृदयं न यस्य साक्षात्" इत्युक्तेः। **तदन्तरस्य सर्वस्य** जगतः। **तदु**–तदेवास्य **बाह्यतः**। एवमपि जगतो नित्यत्वं सिद्ध्यति, सर्वथा नित्येन ब्रह्मणानुस्यूतत्वात्। एतच्च प्रभोर्विरुद्धधर्माश्रयत्वमचिन्त्यशक्तिमत्त्वेन तदिच्छाशक्त्यधीनं, न तु मायिकम्, ब्रह्मणः शुद्धत्वादित्यनुसन्धेयम् ॥ ५ ॥

भाषा

प्रभु-स्वरूप-विषयक समस्त संशयों को उच्छिन्न करने के लिये

विरुद्धधर्मों का आश्रयगरूप उनका माहात्म्य बतलाते हैं—तद् = वह (परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीपुरुषोत्तम (भक्तों के अधीन होने के कारण)

एजति = उनके मनोरथानुरूप शरीर धारण करते हैं। (स्वयं बन्धन और मोक्ष के दाता होते हुए भी यशोदा की रस्सी में बँध जाते हैं। शरणद होते हुए भी दुर्वासा को शरण नहीं देते। सत्यप्रतिज्ञ होते हुए भी कौरवों के संग्राम में रथ का चक्र उठालेते हैं। जगत् के राजाओं के महाराज होते हुए भी नवनीत की चोरी करते हैं। (और) भक्तों के इच्छानुरूप शरीर से अवतीर्ण होनेवाले

तद् उ = वही भगवान् श्रीपुरुषोत्तम (विरुद्ध धर्मों के आश्रय होने के कारण)

न एजति = अपने स्वरूप से विचलित नहीं होते

तद् = वह (भगवान् श्रीपुरुषोत्तम)

("विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्" इस वचन के अनुसार)

दूरे = (अभक्तों से) दूर हैं (तथा)

तद् उ = वही श्रीपुरुषोत्तम

("विसृजति हृदयं न यस्य साक्षात्" इस वचन के अनुसार)

अन्तिके = (भक्तों के) समीप हैं।

तद् = वह भगवान्

अस्य = इस

सर्वस्य = सब जगत् के

अन्तः = भीतर प्रविष्ट हैं

(और)

तद् उ = वही भगवान् श्रीपुरुषोत्तम

अस्य = इस

सर्वस्य = समस्त जगत् के

बाह्यतः = बाहर हैं।

(यह जगत् सर्वथा नित्य ब्रह्म से ओतप्रोत है इसलिये नित्य है, तथा भगवान् का विरुद्धधर्माश्रयण उनके अचिन्त्यशक्तिमान होने के कारण उनकी इच्छा शक्ति के आधीन है, ऐसा जानना चाहिए।) ॥५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति (विजुगुप्सते)॥६॥

विरुद्धधर्माश्रयत्वभावनात् सकलसंशयोच्छेदं कण्ठरवेणाह—यः कश्चिद् भाग्यवान् प्रभोः कृपापात्रं **सर्वाण्या**-ब्रह्मस्तम्बपर्यन्तानि भूतानि ब्रह्मण्ये**वानुपश्यति**, सुवर्णे कटककुण्डलादिवदनुभवति, सर्वभूतेषु स्थावरजङ्गमेषु चात्मानं ब्रह्म कनककुण्डलादिषु सुवर्णवदनुभवति—स **ततो** विरुद्धधर्माश्रयत्वभावनाद्धेतोर्**न विचिकित्सति** प्रभुस्वरूपे न संशेत इत्यर्थः। "न विजुगुप्सते" इति पाठान्तरे तु ततः सर्वभूतेभ्यो न विजुगुप्सते घृणां न करोतीत्यर्थः। सर्वस्यापि नित्यरम्यशुद्धब्रह्मोपादानकत्वेन विजुगुप्साप्रयोजकभ्रमात्मकानित्यत्वारम्यत्वाशुद्धत्वादेरप्रसंगात्। तादृशानां भावनावतां विरलत्वद्योतकः शब्द'स्तु'रिति विभावनीयम्। आत्मशब्दस्य जीवपरत्वेन व्याख्याने "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति" इति भगवद्वाक्यविरोधोऽपरिहार्यः स्यात्॥ ६॥

भाषा

परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीपुरुषोत्तम विरुद्ध धर्मों के आधार हैं इस प्रकार की भावना से पुरुष के समस्त संशय उच्छिन्न हो जाते हैं—इस बात को जोर देकर कहते हैं—

यस्तु = जो कोई (परम भाग्यवान् प्रभु का कृपापात्र)
सर्वाणि = ब्रह्म से लेकर स्तम्ब (तृणगुच्छ) पर्यन्त समस्त
भूतानि = प्राणियों को (सुवर्ण में कङ्कण-कुण्डलकी तरह)
आत्मनि = भगवान् श्रीपुरुषोत्तम में

एव = ही (व्याप्त)

अनुपश्यति = देखता है

च = तथा

सर्वभूतेषु = सब स्थावर-जङ्गमात्मक प्राणियों में

आत्मानं = श्रीपुरुषोत्तम को (व्याप्त)

देखता है।

स = वह

ततः = भगवान् विरुद्धधर्माश्रय हैं इस भावना के कारण (प्रभुके स्वरूप में)

न विचिकित्सति = संदेह नहीं करता।

(न विजुगुप्सते) = किसी भी प्राणी से घृणा नहीं करता।)

नित्य रम्य एवं शुद्ध ब्रह्म ही समस्त जगत् का उपादान कारण है। इसलिये घृणा के कारण भ्रमरूप अनित्यता अमनोहरता और अशुद्धता को वहां अवसर ही नहीं है। किन्तु जिनको ब्रह्मविषयक अनित्यता अमनोहरता एवं अशुद्धता की भावना नहीं है, वे थोड़े हैं। 'तु' शब्द इसी बात का द्योतक है।

जो कोई आचार्य आत्मशब्द का जीवविषयक व्याख्यान करते हैं उनके यहां

"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति"

इस भगवद्गीता के वाक्य के साथ होनेवाला विरोध नहीं हटाया जा सकता ॥ ६ ॥

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

पूर्वोक्तभावनाजनिततद्विषयकसकलसंशयनिरासाव्यवहितोत्तरकालिकतदिदृक्षाकातरत्वलक्षणविरहानुभवात्मकावस्थाविशेषस्य मोहादिनिवर्तकत्वमुखेन परमोपादेयत्वमाह—

विजानतः भगवद्विषयकविशिष्टज्ञानवतो जनस्य । ज्ञाने वैशिष्ट्यञ्च निर्दोषपूर्णगुणविग्रहत्त्वप्रकारकरूपमिति बोध्यम् । **यस्मिन्** विरहात्मकानुभवावस्थाविशेषे । **सर्वाणि भूतानि** स्थावरजङ्गमानि **आत्मैवाभूत्** आविर्भवद्भावात्मकपूर्णानन्दात्मकानि भवन्तीत्यर्थः । **तत्र** तस्मिन्नवस्थाविशेष एकत्वं शुद्धमद्वैतम**नुपश्यतो**ऽनुभवतो जनस्य को मोहः कश्च शोकः, न कोऽपीत्यर्थः । भक्तानां विरहदशायां मोहशोकादिविनिवृत्तिपूर्वकसर्वात्मभावो

'लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ।'

इत्यादिषु समाधिभाषोक्तप्रकरणेष्वतिरोहित इति नैपुण्येन विचारणीयम् ॥७॥

भाषा

मनुष्य जब यह जान लेता है कि भगवान् विरुद्धधर्माश्रय हैं, तो उसके भगवद्विषयक सभी संशय उच्छिन्न हो जाते हैं और उसको तत्क्षण ही भगवान् के दर्शनों की इच्छारूप कातरता उत्पन्न होती है, जो भगवद्विरह का एक अवस्थाविशेष है, वह अवस्था मोहादि की निवर्तक होने के कारण अत्यन्त उपादेय मानी गई है । उस उपादेयता का इस मंत्र में वर्णन है—

विजानतः=भगवद्विषयक विशिष्ट ज्ञानवान् पुरुष को (भगवान् निर्दोष, पूर्ण एवं सगुण शरीर को धारण करते हैं, इस प्रकार जानना ज्ञान की विशिष्टता है)।

यस्मिन्=जिस विरहानुभवरूप अवस्थाविशेष में

सर्वाणि भूतानि=सब स्थावर जंगम प्राणी

आत्मा एव=पूर्ण आनन्दमय परमात्मरूप ही

अभूत्=दिखलाई देते हैं ।

तत्र=उस अवस्था में

एकत्वम्=शुद्ध अद्वैत का

अनुपश्यतः=अनुभव करनेवाले पुरुष के लिये

को मोहः=क्या मोह (और)

कः शोकः=क्या शोक है। अर्थात् शोक मोह कुछ भी नहीं है।

(व्रजभक्तों ने भी भगवान् की विरहदशा में केवल उनकी आनन्दमय लीलाओं का अनुकरण किया था, जैसा कि "लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः।" श्रीमद्भागवत के इस वचन से अच्छी तरह जाना जाता है) ॥ ७ ॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

विरहे तत्साक्षात्काररूपानुभवं विवृणोति—

स पूर्वोक्तो विरहानुभवी। शुक्रं वीर्यवन्तं तादृशभक्तकृतस्य विषयकभोगे परमौदार्येण शक्तम्। अकायमप्राकृतशरीरमानन्दमयविग्रहमित्यर्थः। अव्रणं लौकिकसच्छिद्रत्वविकारदेहरहितम्। निर्दोषपूर्णगुणविग्रहमिति यावत्। अस्नाविरमप्राकृतशरीरत्वाद्रुधिरसंचारार्थं नाड्यादिरहितम्। शुद्धं मायासम्बन्धरहितम्।

"मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः"

इत्युक्तेः। अपापविद्धमविहिताचरणेऽपि तज्जन्यदुरदृष्टासंबद्धम्। ईश्वरस्य सर्वं कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं च शक्तत्वात्। पर्यगात् प्राप्तवान्। सर्वभावेन भजत इति भावः। तादृशस्य भक्तस्य स्वरूपमाह— कविरित्यादि। कविर्भगवद्गुणवर्णनक्षमः। मनीषी तत्प्रवणमनस्कः। परिभूस्तदर्थोज्झितलोकवेदः। स्वयंभूः प्राकृत-

शरीरादिशून्यतया स्वेच्छामयविग्रहवत्त्वेन भूतादिनिरपेक्ष तत्तल्ली-लोपयोगिसर्वभवनसामर्थ्यसहितः। **शाश्वतीभ्यः समाभ्यः**, पञ्च-म्या ल्यब्लोपप्रयोज्यत्वात्, नैरन्तर्यविशिष्टसंवत्सरानाश्रित्येत्यर्थः। संवत्सरेषु नैरन्तर्यविशिष्टत्वं चोत्तमश्लोकवार्ताविरहितक्षणकत्वा-भाववत्त्वरूपमिति बोध्यम्। **अर्थान्** धर्मार्थकाममोक्षाख्यान् पुरुषार्थान्। **याथातथ्यतो व्यदधात्** विदधाति। तेषु भगवद्विष-यकत्वेन परमपुरुषार्थत्वसम्पादनं हि याथातथ्यम्। तच्च बृहच्चतुः श्लोकीतोऽवगन्तव्यम्।

यदि तु **अकाय**मितिपदेन सर्वथा कार्यनिषेधः श्रुत्यभिमतः स्यात्तदाऽव्रणमस्नाविरमितिपदद्वयं न ब्रूयात्। कायनिषेधेनैव व्रणस्नाविरनिषेधलाभात्। अतो व्रणस्नाविरादिरहितमानन्दमय-विग्रहवत्त्वं भगवतः श्रुत्यभिमतम्। एवञ्च प्रकरणशुद्धौ व्या-ख्यानसामञ्जस्ये लिङ्गव्यत्ययकल्पनाऽनवकाशमापद्यते इत्यलम्॥८॥

भाषा

भगवान् के विरह में भगवत्साक्षात्कारप्राप्ति का स्वरूप इस मन्त्र में बतलाते हैं—

(पूर्वोक्त भगवद्विरह का अनुभव करने वाला)

सः=वह श्रीपुरुषोत्तम का भक्त

शुक्रम्=वीर्यवान (भगवद्विरहानुभवी भक्त द्वारा किये गये भगवद्विषयक भोग में अत्यन्त उदारता से आसक्त)

अकायम्=प्राकृत शरीर से रहित (आनन्दमात्रशरीरसम्पन्न)

अव्रणम्=लौकिक सच्छिद्र सविकार शरीर से रहित अर्थात् निर्दोष, पूर्ण, सगुण शरीर से युक्त

अस्नाविरम्=अप्राकृत शरीर होने के कारण रुधिरसंचार करने-वाली नाडी आदि से रहित

शुद्धम्="मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः" इस वचन

के अनुसार माया के सम्बन्ध से शून्य

अपापविद्धम्=करने, न करने और अन्यथा करने में समर्थ होनेके कारण अविहित आचरणों के होने पर भी उससे उत्पन्न कर्मफल से असंबद्ध (उस परब्रह्म परमात्मा श्रीपुरुषोत्तम) को

पर्यगात्=प्राप्त हो गया अर्थात् सब प्रकार से परिचर्या करता है। (अतः) वह भक्त

कविः=कवि (भगवद्गुणवर्णन में समर्थ)

मनीषी=भगवान् में मन लगानेवाला

परिभूः=भगवदर्थ लोकवेद का त्याग करनेवाला है (एवं)

स्वयंभूः=प्राकृत शरीरादि से रहित होने के कारण भूतों (पृथ्वी जलादि) के विना ही स्वेच्छामय तथा तत्तत् लीलाओं के उपयुक्त सर्वरूप होने के सामर्थ्य से युक्त (उसने)

शाश्वतीभ्यः=नैरन्तर्य विशिष्ट

(जिनका एक भी क्षण उत्तमश्लोक भगवान श्री पुरुषोत्तम की कथाओं से शून्य नहीं है वही संवत्सर नैरन्तर्य विशिष्ट हैं ऐसे)

समाभ्यः=बहुत वर्षों तक

अर्थान्=धर्म, अर्थ काम, मोक्ष रूपी चतुर्वर्ग को

याथातथ्यतः=भगवद्विषयक होने के कारण यथार्थ रूप में

व्यदधात्=विधान किया।

(जैसा कि वृत्रचतुः श्लोकी से जाना जाता है)

(यदि "अकायम्" इस पद के मन्त्र में रखने से सर्वथा उसकी काया (शरीर) का अभाव बतलाना ही श्रुति का अभिमत होता तो "अव्रणम्" तथा "अस्नाविरं" इन दोनों पदों को इस मन्त्र में रखने की आवश्यकता नहीं थी। काय के निषेध में ही व्रण एवं स्नायु का निषेध हो जाता। किन्तु वैसा न करके उन पदों के उपन्यास से यह सिद्ध है, कि भगवद्विग्रह को आनन्दमय बतलाना ही श्रुति का अभिमत है। इस

प्रकार प्रकरण की शुद्धि होते हुए व्याख्यान सामञ्जस्य हो जाने पर लिङ्गव्यत्यय की कल्पना को अवकाश ही नहीं रहता है।)॥८॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥ ९॥

इयता प्रघट्टकेन पुष्टिपथिकस्य साधनावस्थामारभ्य सिद्धावस्थासमधिगतं सर्वात्मभावमुपदिश्य भक्तिविरहितज्ञानस्य बलवत्तरानिष्टप्रयोजकत्वमुपदेष्टुं प्रागुक्तमपि कर्मणामभगवत्प्रीत्यर्थानां बलवदनिष्टप्रयोजकत्वमनुवदति तारतम्यप्रतिपत्तये—

ये तत्तत्फलार्थिनो भगवद्गुणानुवादादिरहिताः। **अविद्याम**भगवत्प्रीत्यर्थकत्वेन बन्धनात्मकं कर्म **उपासते** अनुतिष्ठन्ति। **ते अन्धं तमः**भगवन्माहात्म्याज्ञानात्मिकामहन्त्वममत्वरूपां संसृतिम्—**प्रविशन्ति**—जन्ममरणपरम्परामनुभवन्तः क्रमेणोपयेधो गच्छन्तस्तामेव स्थितिं लभन्ते। अथोपदिदिक्षितमाह-**तत** इत्यादिना। **ये विद्यायाम्** ब्रह्मज्ञाने। **उ** एव। **रता**स्तल्लब्धये क्लिश्यमानाः, नतु भक्तिसहकृतायां तस्यामित्युपदस्वारस्यम्। **ते** विमुक्तमानिनः। **ततः** पूर्वोक्तात् कर्मजडजनसुलभादन्धतमसाद्, **भूय इव** प्रचुरमेव। एवार्थ इवकारः। **तमो** मोहं प्रविशन्तीति शेषः। तमसि भूयस्त्वन्तु भगवच्चरणानादरणकारणकत्वेन कथञ्चिल्लब्धादपि लब्धव्याद्विभ्रंशकत्वमिति ध्येयम्। भगवन्माहात्म्याज्ञानरूपस्य तमसो भगवन्माहात्म्योपदेशश्रवणादिना निवर्त्यत्वाद्—भगवच्चरणानादरणस्य तु दृढदुराग्रहमूलकतयाऽनिवर्त्यत्वेन तत्प्रयुक्तस्य तमसोऽप्यनिवर्त्यत्वाद् भूयस्त्वम्— तदुक्तं ब्रह्मादिभिर्भागवते—

"येऽन्येऽरविन्दाक्ष! विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥ इति

अथवा तमसि भूयस्त्वं नाम लब्धव्यराहित्येन मृगतृष्णायामिवाविरतानन्तप्रयासविशिष्टविभ्रंशप्रयोजकत्वमितिबोध्यम् । अतएव 'भूय इवे'तीवशब्दोऽपि सार्थकः । अन्धतमसस्य फलभोगानन्तरनिवर्त्यत्वात् अस्य प्रयासस्य तु भ्रान्तिजनितत्वेन शाश्वतत्वाद् भूयस्त्वम् । तथा च

'श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो !
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥

इति ब्रह्मस्तुतिः समर्थिता भवतीति दिक् ॥ ९ ॥

भाषा

इतने प्रकरण से पुष्टिमार्ग के पथिक को उपदेश देने की इच्छा से इसकी प्रवेशावस्था से लेकर विरह में भावस्वरूप भगवान् श्रीपुरुषोत्तम की प्राप्ति तक का अविकल रहस्य बताकर, भक्तिरहित ज्ञान अधिक अमंगल का जनक है, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है और भगवान की प्रीति के लिये न किये गये कर्म भी अधिक अनिष्ट पैदा करनेवाले हैं—यह बात इस मंत्र में बतलाते हैं—

ये=भगवद्गुणानुवाद से हीन और उन-उन फलों की चाहना करनेवाले जो प्राणी

अविद्याम्=भगवत्प्रीति के लिये न किये गये बन्धनरूप कर्मों का

उपासते=अनुष्ठान करते हैं

ते=वे

अन्धन्तमः=(जन्म और मरण की परम्परा का अनुभव करते हुए) अन्धतम में

प्रविशन्ति = प्रवेश करते हैं। क्रमशः ऊपर नीचे जाते जाते हुए अन्धतम में पहुँचते हैं। (तथा)

ये = जो लोग (भक्तिविरहित)

विद्यायाम् = ब्रह्मज्ञान में

उ = ही (ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये)

रताः = लगे हुए (क्लेश का अनुभव कर रहे) हैं।

ते = (अपने आत्मा को मुक्त माननेवाले) वे प्राणी

ततः = पहले बतलाये गये, कर्मजड जनों के लिये सुलभ, अन्धतम से भी

भूय इव = अधिक-जैसे

तमः = मोहान्धकार में

प्रविशन्ति = प्रवेश करते हैं।

(मिलना-मिलाना कुछ नहीं और मृगतृष्णा के समान व्यर्थ प्रयास करना पड़ता है तथा उस प्रयास के अनन्तर भी पुनः पतन हो जाता है। शुष्कज्ञानी बार-बार ऐसा करते रहते हैं, अतः उस प्रयास को अन्धतम से अधिकजैसा बताया गया है। ब्रह्मा इन्द्र आदि देवताओं ने श्रीमद्भागवत के—

"येऽन्येऽरविन्दाक्ष! विमुक्त मानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः"

इस श्लोक में कहा है कि विमुक्तमानी लोग प्रभु के चरणों का आदर न करने से ऊंचे चढ़ कर गिरते हैं।

अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

इदानीं भगवत्संबन्धिज्ञानकर्मणोः फलमलौकिकमिति बोधयितुमाह—

ये आचार्याः । **नोऽस्माकमुपनिषदाम्** । **तत्** सेव्यं ब्रह्म । **विचचक्षिरे** व्याख्यातवन्तः । तेषां **धीराणाम्** । वचनमिति शेषः । **इति** = अनेन प्रकारेण । **शुश्रुम** श्रुतवन्त्यः वयमुपनिषदः । किं त आहुः ? **विद्यया** ब्रह्मज्ञानेन । **अन्यदेव** पृथगेव फलं भगवत्कृपापात्रैकवेद्यमेव भवतीत्याहुः । **एवमविद्यया** कर्मणाऽप्यन्यदेव पृथगेव भगवत्कृपापात्रैकवेद्यमेव फलं भवतीत्याहुः ।

तच्च फलं क्रमशो भगवन्मतिः, भगवत्तोषात्मकं च बोद्धव्यम्, "तत्कर्म हरितोषं यत्साविद्या तन्मतिर्यया" इत्युक्तेः । भगवद्विषयकमतित्वञ्च निष्किञ्चनमहीयःपादरजोऽभिषेकवरणप्रयोज्योरुक्रमाङ्घ्रिविषयकत्वम्, "नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिम्" इति भागवते प्रह्लादोक्तेः । ज्ञानकर्मणोस्तादृशफलजनकत्वरूपं तत्त्वं ज्ञातव्यमिति भावः ॥१०॥

भाषा

ये = जिन आचार्यों ने

नः = हमारे लिये

तत् = उपनिषदों के सेव्य (प्रतिपाद्य) उस परब्रह्म परमात्मा श्री पुरुषोत्तम का

विचचक्षिरे = व्याख्यान किया (स्वरूप बतलाया) है

धीराणाम् = उन धीर पुरुषों के (वचन)

इति = इस प्रकार

शुश्रुम = सुने हैं कि

विद्यया = ब्रह्मज्ञान (श्रीपुरुषोत्तमविषयक ज्ञान) का

अन्यत् = कुछ अन्य

एव = ही (जिसे केवल भगवत्कृपापात्र ही जान सकते हैं) फल होता है । इसी प्रकार

अविद्यया = कर्म का (भी)

अन्यत् = कुछ और

(एव) = ही (जिसे भी केवल भगवत्कृपापात्र ही जान सकते हैं) फल होता है ।

(वह फल "तत्कर्म हरितोषं यत्" और "सा विद्या तन्मतिर्यया" के अनुसार क्रमशः ज्ञान का फल भगवद्विषयिणी मति और धर्म का फल भगवत्प्रीति है । निष्किञ्चन भगवद्भक्तों के चरणकमलों की धूलि से अभिषेकपूर्वक उरुक्रम भगवान् के पदपद्मों का आश्रयण ही भगवद्-विषयिणी मति है। जैसा कि "नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिम्" आदि श्रीमद्भागवत में वर्णित प्रह्लादोक्ति से स्पष्ट है ॥१०॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११॥

विद्याविद्ययोस्तत्त्वं संकेतेनोक्त्वा तथाविधतत्त्वविशिष्टयो-स्तयोर्वेदनफलमाह—

यः कश्चिद् भगवत्कृपाभाजनं पुरुषः । **विद्यां** ब्रह्मज्ञानम् । **अविद्यां** कर्म । **तत्** पूर्वमन्त्रसंकेतिततत्त्वविशिष्टमेतदुभयम् । **सह** भगवद्विषयकत्वेन सहचरितम् । **वेद** जानाति । **सः** । **अविद्यया** भगवद्विषयकत्वेनविद्यासहचरितत्वप्रकारकवेदनविषयी-भूतेन कर्मणा । **मृत्युं** संसारम् । **तीर्त्वा** । **विद्यया** भगवद्-विषयकत्वेन कर्मसहचरितत्वप्रकारकवेदनविषयीभूतेन ब्रह्मज्ञानेन । **अमृतं** स्वरूपं त**मश्नुते** अनुभवति ॥ ११ ॥

भाषा

यः = जो कोई भगवत्कृपापात्र

विद्याम् = ब्रह्म (श्रीपुरुषोत्तम) विषयक ज्ञान
च = और
अविद्याम् = कर्म (पूर्व मन्त्र में संकेतित तत्त्वसे युक्त)
तत् = उन
उभयम् = दोनों को
सह = भगवद्विषयक होने के कारण सहचरित
वेद = जानता है ।
(सः) = वह
अविद्यया = भगवद्विषयक होने के कारण विद्या से युक्त कर्म से
मृत्युम् = संसार को
तीर्त्वा = तरकर
विद्यया = भगवद्विषयक होने के कारण कर्म से युक्त ज्ञान के विषयीभूत ब्रह्मज्ञान से
अमृतम् = रसरूप उन श्रीपुरुषोत्तम का
अश्नुते = अनुभव करता है ॥ ११ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥१२॥

अथ विरुद्धधर्माश्रये भगवत्येकतरधर्माश्रयत्वाग्रहस्यानर्थहेतुकत्वेन हेयत्वमाह—

ये सर्वभवनसमर्थत्वेन भगवन्तमजानानाः । **असम्भूतिमसम्भवमुपासते** आगृह्णन्ति । न हि व्यापकस्यैकदेशित्वम्, न हि निराकारस्य साकारत्वम, नहि निर्गुणस्य सगुणत्वम्, नह्यप्रमेयस्य प्रमेयत्वं सम्भवतीति प्रत्यवतिष्ठन्ते । ते **अंधं तमः** पूर्वोक्तम **प्रविशन्ति** । ये च कुतर्ककदर्थितकुमतिकाः **सम्भूत्या** सम्भवे । उ एव । **रताः** साग्रहाः । नन्दगोपसुतस्य प्राकृतत्वं सम्भवति, पर-

दारपरामर्शिनोऽसाधुत्वं सम्भवति, रासरसिकस्य विषयित्वं सम्भवति, सुरतरतस्य स्खलितसौरतत्वं सम्भवति, इत्यादि दुर्भावनाभाविता इति भावः। ते आत्मवञ्चकास्ततः पूर्वोक्तात्तमसो भूय इव प्रचुरमेव तमो मोहं प्रविशन्तीति शेषः। तमसि भूयस्त्वं नाम भगवन्निन्दाप्रयोज्यत्वेनेयत्तानवच्छिन्नत्वम्, "भगवन्निन्दया वेनः" इत्युक्तेरित्यूह्यम् ॥ १२ ॥

भाषा

विरुद्धधर्माश्रय भगवान् श्री पुरुषोत्तम में किसी एक धर्म के आश्रय का आग्रह अनर्थ का कारण है, अतः उसकी हेयता बतलाते हैं—

(भगवान् श्री पुरुषोत्तम सर्वरूप हो सकते हैं, एवं सब कुछ कर सकते हैं, इस प्रकार उनके स्वरूप को न जाननेवाले)

ये = जो लोग (व्यापक ब्रह्म एकदेशी नहीं हो सकता, निराकारब्रह्म साकार नहीं हो सकता, निर्गुण ब्रह्म सगुण नहीं हो सकता, अप्रमेय ब्रह्म प्रमेय नहीं हो सकता आदि)

असंभूतिम् = असंभव को

उपासते = ग्रहण करते हैं (निश्चित करते हैं)

ते = वे (पहले बतलाये गये-)

अन्धं तमः = गाढान्धकार में

प्रविशन्ति = प्रवेश करते हैं।

च = और

ये = कुत्सित तर्कों से कदर्थित एवं दूषितबुद्धि जो प्राणी (नन्द गोप के पुत्र को प्राकृत होना चाहिये, परदाराओं के स्पर्शकर्ता को असाधु होना चाहिये, रासरसिक को विषयी होना चाहिये, स्त्रीप्रसंग में प्रीति करनेवाले को अचिरसौहृद होना चाहिये—आदि)

सम्भूत्यां = सम्भव में

उ = ही

रताः = प्रीति करते हैं। (कुत्सित भावनाओं से भावित, आत्मा का प्रतारण करनेवाले)

ते = वे लोग

ततः = पूर्वोक्त अज्ञान से

भूय इव = अधिक-जैसे

तमः = अज्ञान में

प्रविशन्ति = प्रवेश करते हैं।

(भगवान् श्रीपुरुषोत्तम की निन्दा करना ही तम का भूयस्त्व है, जिसका परिमाण नहीं है। राजा वेन ऐसा ही पापी था, जो ब्राह्मणों के शाप से अधिकतम में जाकर पतित हुआ था, जैसाकि "भगवन्निन्दया वेनो द्विजैस्तमसि पातितः" आदि वचनों से स्पष्ट है)

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३॥

अथ भगवद्विषये सम्भवासम्भवयोरसम्भवसम्भवात्मकत्वमाह—

ये साक्षात्कृतभगवत्स्वरूपा आचार्याः। **नोऽस्माकमुपनिषदाम्**। **तत्** सेव्यं ब्रह्म। **विचचक्षिरे** व्याख्यातवन्तः। तेषां **धीराणां** भगवन्माहात्म्यविषयकधीमताम्। **सम्भवात्** तर्कितसत्त्वादन्यदेव भिन्नमेव भगवद्विषयकत्वेनासम्भवरूपमेवाहुः। शिष्टा इति शेषः। **असम्भवात्** अतर्कितसत्त्वात्। **अन्यदेव** भिन्नमेव भगवद्विषयकत्वेन सम्भवरूपमेवाहुः। शिष्टा इति शेषः। इत्येवंप्रकारकवाक्यं **शुश्रुमः** श्रुतवन्तो वयमुपनिषदः।

भगवतः सर्वंभवनसमर्थत्वेन विरुद्धधर्माणामपि सामानाधिकरण्यस्य सूपपादत्वात्, "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्"

"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" इत्यादिश्रुतिशिरः सिद्धान्तप्रामाण्यात्, "न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिगणितगुणगणेश्वरेऽनवगाह्यमाहात्म्येऽर्वाचीनकुतर्कंकलिलान्तःकरणवादिविवादानवसरे" इति भागवतोक्तेश्चेति भावः ॥१३॥

भाषा

ये = जिन आचार्यों ने

नः = हमारे लिए

तत् = उपनिषदों के सेव्य (प्रतिपाद्य) उस परब्रह्म परमात्मा श्री पुरुषोत्तम का

विचचक्षिरे = व्याख्यान किया (स्वरूप बतलाया) है (उन शिष्टों ने)

धीराणाम् = भगवन्माहात्म्य के जानने वाले उन धीर पुरुषों के

सम्भवात् = तर्कित (विचार) से

अन्यत् = भिन्न

(भगवद्विषयक होने के कारण असम्भवरूप)

एव = ही

आहुः = बतलाया है । (तथा उन धीर पुरुषों के)

असम्भवात् = अतर्कित से

अन्यत् = भिन्न (भगवद्विषयक होने के कारण सम्भवरूप)

आहुः = बतलाया है । (हम मन्त्रों ने)

इति = ऐसा

शुश्रुम = सुना है ।

भगवान् श्रीपुरुषोत्तम सर्वरूप होने में समर्थ हैं, अतः उनमें विरुद्ध धर्मों का समावेश भी अच्छी तरह हो सकता है ।

"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्"

"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः"

"श्रीपुरुषोत्तम के हजारों शिर, नेत्र, और पैर हैं" "वह पैर न होते हुए भी वेग से चलता है, हाथ न होते हुए भी ग्रहण कर सकता है, आंख न होते हुए भी देख सकता है, कान न होते हुए भी सुन सकता है।" आदि वेदवाक्यों के प्रमाणभूत सिद्धान्तों ने यही सिद्ध किया है।

अगणित गुण-गणों के ईश्वर, दुष्प्रवेश्यमहात्म्य, आधुनिक कुतर्कों से मलिनाःन्तकरण वादियों के विवाद के अविषय भगवान् श्रीपुरुषोत्तम में दोनों प्रकार ही अविरुद्ध हैं ॥ १३ ॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
विनाशेनमृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

अथ भगवद्विषयकयोरसम्भवसम्भवात्मकयोः सम्भवासम्भवयोर्वेदनफलमाह—

यः कश्चिद् भगवत्कृपाभाजनभूतः पुरुषः । सम्भूतिं सम्भवम् । विनाशमसम्भवम् । तत् पूर्वोक्तप्रकारेण विपरिवर्तितरूपम् । सह उक्तप्रकारेण सहचरितम् । वेद । स विनाशेन तथाविधवेदनविषयीभूतेनासम्भवेन । मृत्युं संसारम् । तीर्त्वा । सम्भूत्या तथाविधवेदनविषयीभूतसम्भवेन । अमृतं रसात्मकं तमश्नुते अनुभवति ॥ १४ ॥

भाषा

भगवद्विषयक असम्भव और सम्भवरूप सम्भव तथा असम्भव के ज्ञान का फल कहते हैं—

यः = जो कोई भगवत्कृपापात्र
सम्भूतिम् = पूर्वोक्त सम्भव
च = और
विनाशम् = असम्भव
उभयम् = दोनों को

सत् = पहले पद्य में बतलाई गई रीति से असम्भव और सम्भवरूप में
सह = सहचरित ही
वेद = जानता है (वह)
विनाशेन = तथाविध ज्ञान के विषयीभूत असम्भव से
मृत्युम् = संसार को
तीर्त्वा = पारकर
सम्भूत्या = तथाविध ज्ञान के विषयीभूत सम्भव से
अमृतम् = रसरूप श्री पुरुषोत्तम का
अश्नुते = अनुभव करता है ॥ १४ ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

अथ केन प्रकारेणामृतमश्नुत इति बोधयितुं प्रागुक्तपरमफलरूपस्य विरहानुभवावस्थाविशेषस्य व्रजाङ्गनाजननिष्ठत्वेन भावितस्यैवामृताशनरूपतेति ख्यापयितुं तादृशविरहानुभवं तदुक्त्यैवाह—

हे **पूषन्**! पोषणकर्त्तः, स्वजन्मना व्रजाधिकजयकारित्वेवानुग्राहिन्, विरहानुभविभक्तजनेषु दयार्द्रहृदयेति वा । **हिरण्मयेन** सुवर्णप्रचुरेण । पत्रमिव प्रतिकृति पात्रम्, तेन **पात्रेण** तदाकृतिश्रीमुकुटेन । आ-ईषत् पिहितम्-**आपिहितम्** । तस्य किञ्चिद् भुग्नत्वात् किञ्चिदावृतम् । **सत्यस्य** ब्रह्मणः श्रीपुरुषोत्तमस्य ते । तदनिवचनीयचारुत्वविशिष्टम् । **मुखं** जलरुहाननम् । **सत्यस्य** तव धर्माय, अंशत्वेन धर्मभूताय मह्यं जीवात्मने । जीवमनुग्रहीतुमित्यर्थः । 'क्रियार्थोपपदस्ये' ति कर्मणि चतुर्थी । **दृष्टये** तावकानां चाक्षुषज्ञानाय । **त्वं** दयितः । **अपावृणु** आविर्भावय ॥ १५ ॥

भाषा

उस रसस्वरूप अमृत का उपभोग किस प्रकार किया जा सकता है यह बतलाने के लिए पूर्वोक्त परमफलरूप श्री पुरुषोत्तम के विरहानुभवरूप अवस्थाविशेष का व्रजाङ्गनाओं की भावना से अनुभव करने पर ही

अमृताशनरूपता होती है यह बताने के लिये यह बात उन्हीं की उक्ति के रूप में बतलाते हैं-

(अपने जन्म से व्रज की अधिक जय करने के कारण)

पूषन् = हे कृपा करनेवाले भगवन्

हिरण्मयेन = सुवर्णमय (सोने के बने)

पात्रेण = पत्राकृति श्रीमुकुट से (उसके कुछ टेढ़ा होने के कारण)

आपिहितम् = किञ्चित् ढके हुए

सत्यस्य = सत्यस्वरूप परब्रह्म परमात्मा श्रीपुरुषोत्तम आप के

तव = अनिर्वचनीयसौन्दर्यशाली

मुखम् = श्रीमुख को

दृष्टये = दर्शनार्थ (एवं)

सत्यधर्माय = सत्य स्वरूप आपके धर्मभूत मुझ जीवात्मा पर अनुग्रह करने के लिये

त्वम् = आप

अपावृणु = प्रकट करिए ॥ १५ ॥

पूषन्नेकर्षे ! यम ! सूर्य ! प्राजापत्य ! व्यूह रश्मीन्, समूह तेजो, यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोहमस्मि ॥१६॥

अथ विरहकालिकीं फलावस्थामनुभवितृमुखेनाह—हे पूषन् ! विषजलाप्ययादिभ्यो मुहू रक्षकत्वेनानुग्राहिन् !। एकर्षे ! पतिसुतान्वयादि विलङ्घ्य तेऽन्त्यागता अस्मान् विहायैकाकित्वेन गन्तः ! यम ! सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा निहननेन यातनादायिन् ! सूर्य ! बिभ्यदस्मत्कर्कशस्तनस्थापितपरमसुकोमलचरणकृतकूर्पादि-मथविपिनसरण ! हृदयतपन ! प्राजापत्य ! प्रजापतेर्विखनसोऽनु-ग्रहायागत !। त्रिभ्वगुप्तये प्रार्थितत्वेन सात्वतां कुले प्रादुर्भूत !। रश्मीन् निजजनस्मयध्वंसनीभूतस्मितकिरणान्। व्यूह विशिष्ट-तर्कविषयीकुरु। विशिष्टतर्कश्च युक्त्या अर्थनिर्णयः। स च स्मितेनैव दर्पध्वस्तव्ये तद्ध्वंसनायान्तर्धानमयुक्तमित्याकारकः।तेजो योयम्।

समूह सम्यक् तर्कविषयीकुरु । सम्यक् तर्कस्तु युक्त्या धर्मनिर्णयः । स च व्रजजनार्तिहन्तृत्वसामानाधिकरण्येन प्रसिद्धस्य वीर्यस्य व्रजजनार्तिकर्तृत्वसामानाधिकरण्ये सति स्वरूपहानिप्रसंगाद् विरहेणार्तिकर्तृत्वेमयुक्तिसहमित्याकारकः । यत्ते सख्युः । कल्याणतमं विरचिताभयश्रीकरग्रहकामदकरसरोरुह–प्रणतदेहिपापकर्षण-तृणचरानुग-श्रीनिकेतन-फणिफणार्पित-पद्मजार्चित-धरणिमण्डनपदाम्बुज–चारुजलरुहानन–पुष्करेक्षण-श्रीधामवक्षस्कं परमसुन्दरमानन्दमात्रकरपादमुखोदरं रूपं स्वरूपम् । तत् अनिर्वचनीयरामणीयकम् । ते तावकम् । पश्यामि अनुभवामि । तत्तदङ्गेषु तत्तदङ्गार्पणेन महानन्दाब्धिगाहनमनुभवामीत्यर्थः ।

अथास्मन्नवस्थाविशेषेऽखण्डब्रह्मात्मकत्वस्फूर्तिमाह मन्त्रः-योसावसाविति । यः पूतनास्तनपानकर्ता, असौ सखिस्कन्धन्यस्तस्वभुजो ललितगतिः, असौ वातवर्षत्राणकर्ता गोवर्धनधरः, पुरुषः खलदण्डदपौरुषविशिष्टः, स उलूखलबद्धत्वादिना सभयादिस्वरूपः कृष्णोऽहमस्मि । सेयमखण्डशुद्धाद्वैतभावेन परमानन्दानुभूतिः परमं फलमिति भावः ॥१६॥

भाषा

पूषन् != हे विषमय जल आदि द्वारा होनेवाले विनाशादि से बार-बार रक्षा करने के कारण कृपा करनेवाले!

एकर्षे != पति, पुत्र, परिवार आदि का उल्लंघन कर तेरे समीप आई हुई हमें छोड़कर अकेले चले जानेवाले,

यम != कमल के मध्यभाग की शोभा को चुराने वाली दृष्टि से मारने के कारण यातना देनेवाले!

सूर्य != हमारे अति कठिन स्तनों पर भयपूर्वक स्थापित अपने अतिकोमल चरणकमलों से कण्टकमय वनभूमि में भ्रमण कर हमारे हृदय को तपानेवाले!

प्राजापत्य != विश्व की रक्षा के लिये ब्रह्माजी द्वारा प्रार्थना किये जाने पर यादव-कुल में अवतीर्ण होनेवाले (स्वामिन्!)

रश्मीन् = अपने भक्तों के गर्व को ध्वस्त करनेवाली स्मितकिरणों को

व्यूह = विशिष्ट तर्क का विषय बनाइए। (युक्ति से अर्थ का निर्णय ही विशिष्ट तर्क है। जबकि अपनी मन्द मुसकान से ही गोपियों का गर्व दूर किया जा सकता था, उसके दूर करने के लिये अपना अन्तर्हित हो जाना अत्यन्त अनुपयुक्त था। यह विशिष्ट तर्क का स्वरूप है।)

तेजः = सामर्थ्य को,

समूह = सम्यक् तर्क का विषय बनाइए। (युक्ति से धर्म का निर्णय ही सम्यक् तर्क है, जो भगवद्वीर्य व्रजजनों की पीड़ा के निवारण में समर्थ है, वही यदि उन्हें पीड़ित करने लगे, तो उसमें स्वरूपहानि की सम्भावना है। आपके विरह से पीड़ा का होना युक्तियुक्त नहीं है, अतः इसे निवृत्त करना आपका धर्म है यह सम्यकतर्क का स्वरूप है)

यत् = जो

ते = सखा के रूप में स्थित आपका

कल्याणतमम् = मङ्गलमय अभयदायी लक्ष्मीकरग्राही मनोरथप्रद करकमल से युक्त, प्रणत प्राणियों के पापनाशक, गायों के अनुगामी, शोभा के धाम, काली की फणाली पर विन्यस्त, पद्मजा से पूजित, भूमिभूषण पदपद्म से युक्त, सुन्दर कमल के समान मुख से युक्त तथा विशाल नेत्र एवं लक्ष्मी के निवासस्थान वक्षस्थल से युक्त और जिसके कर, चरण, मुख, उदर आदि प्रत्येक अवयव आनन्दमात्र हैं ऐसे—

तत् = उस अनिर्वचनीय सौन्दर्यशाली

ते = आपके

रूपम् = (स्वरूप को)

पश्यामि = देख रहा हूँ (अपने तत्तत् अवयवों पर आपके तत्तत् अङ्गों को रखकर आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ।)

यः = जो पूतना के स्तनों का पीनेवाला,

असौ = सखा के कन्धे पर अपनी भुजा को रखकर ललित गति से चलनेवाला,

असौ = गोवर्धन को धारण करके वात-वर्षादि से रक्षा करनेवाला,

पुरुषः = दुष्टों के दमन में सामर्थ्यशाली

सः = उलूखलबन्धनादि के कारण भयभीत-सा दिखलाई पड़नेवाला श्रीकृष्ण हैं (वह)

अहम् = मैं

अस्मि = हूँ ।

(इस प्रकार यह मन्त्र भगवद्विरह के समय अखण्ड ब्रह्मात्मक भाव की स्फूर्ति बतलाता है । यह अखण्ड शुद्धाद्वैतभाव के द्वारा परमानन्द के अनुभव की प्राप्ति ही भक्तों का परम फल है—यह है इस कथन का तात्पर्य ।) ॥ १६ ॥

किञ्च—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम् ।
ओं क्रतो! स्मर कृतँ स्मर क्रतो! स्मर कृतँ स्मर ॥१७॥

वायुःकान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कमरञ्जितकुन्दस्रगगान्धवहः पवनो वातीति शेषः । तव **अनिलम्** वागगम्यम्, 'गोभूवाचस्त्विडा इलाः' इत्यमरः । **अमृत**मधरामृतं वितरेति शेषः । **अथ** पक्षान्तरे । अधरामृतालाभे तु **इदं शरीरं भस्मान्तं** विरहजाग्न्युपभुक्तं स्यादिति शेषः । अवतीत्योम् । **ओं** ! रक्षक ! करोति स्वीकरोतीति **क्रतु**-स्तत्संबुद्धौ हे **क्रतो!** स्वीकर्तः ! **स्मर** भवतः किङ्करीरिति शेषः । **कृतं** पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवातिविलङ्घनपूर्वकत्वदन्त्यागमनरूपमस्म-दाचरितं स्मर । युक्तं हि स्वीकर्तुः स्मर्तृत्वम् । विरहावस्थाया निरतिशयत्वबोधनाय आतुरत्वद्योतिका द्विरुक्तिः ॥ १७ ॥

भाषा

वायुः = कान्ता के अङ्गसङ्ग के सूचक कुचकुंकुम से रञ्जित कुन्द की माला के गन्ध को फैलानेवाला वायु (चल रहा है, अतः)

अनिलम् = बाणी के अगोचर अर्थात् अवर्णनीय

अमृतम् = अधरामृत को (प्रदान करिए)

अथ = यदि हमें तेरा अधरामृत प्राप्त न होगा, तो

इदम् = यह (हमारा)
शरीरम् = शरीर
भस्मान्तम् = तेरे विरह से उत्पन्न अग्नि से भस्म हो जायगा।
ओम् = हे (हमारे) रक्षक (तथा)
क्रतो = (हमें) स्वीकार करनेवाले
स्मर = (तू) अपनी सेविकाओं का स्मरण कर
कृतम् = (हम) पति, पुत्र, भाई, बन्धु, कुलमर्यादा आदि का उल्लंघन कर तेरे समीप आई हैं, तू हमारे किये हुए को
स्मर = याद कर (स्वीकारकर्ता का अपने स्वीकृतका स्मरण रखना युक्त ही है।)

(द्विरुक्ति विरहावस्था की सर्वाधिकता की द्योतक है) ॥ १७ ॥

अग्ने! नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देववयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥ १८ ॥

अथ वेदाख्यब्रह्मणः श्रीपुरुषोत्तमहार्दरूपत्वात् तदभिव्यक्तेश्च तन्मुखारविन्दरूपाग्न्येकभाव्यत्वात, किञ्च 'आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ती'त्युक्तदिशा पूर्वोक्तफलस्य तदेकदानार्हत्वात, हार्दजिज्ञासुमहाभागानां तत्प्रार्थनस्य परमावश्यकत्वं बोधयन् गुरुगौरवप्रदर्शनार्थमन्तिममन्त्रेण तं प्रार्थयते श्रुतिः—

अग्ने ! हे पुरुषोत्तममुखारविन्द ! **अस्मान्** श्रीपुरुषोत्तमहार्दजिज्ञासून्। **सुपथा** शोभनेन मार्गेण। मार्गे शोभनत्वं च श्रीपुरुषोत्तमानुग्रहालिङ्गितत्वम्। आलिङ्गितत्वं च स्वसामानाधिकरणदैवजीवसमुद्धारेच्छाप्रयोज्याभिव्यक्तिविषयत्वसम्बन्धेन। समुद्धारश्च स्वहार्दाभिव्यञ्जनप्रयोज्योत्तरशृङ्गाररसानुभवः।

राये सर्वोत्तमधनरूपाय भगवते। यथोक्तम् श्रीहरिरायचरणैः—
"पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोऽर्थो हरिरेव हि।"

'क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि संप्रदानम्' इति चतुर्थी।
नय प्रापय। अग्नेरेव तथा कर्तुं शक्तत्वमाह-यतस्त्वं **विश्वानि** यावन्ति

देवस्यरासक्रीडाकर्तुः श्रीपुरुषोत्तमस्य वयुनानि क्रीडावैदग्ध्यानि। विद्वान् जानानः, असीति शेषः। अस्मत् अस्मत्तः। जुहुराणं स्वरूपविस्मारकत्वाज्जिह्मम्। एनः पापं भगवद्वैमुख्यरूपम्। युयोधि वियोजय। अनाविर्भावदशायामन्यत्कर्तुमशक्ता वयं ते तुभ्यं त्वामनुकूलयितुमित्यर्थः। 'क्रियार्थोपपदस्ये'ति चतुर्थी। भूयिष्ठाम् सश्रद्धत्वेन पौनःपुन्येन च बहुतराम्। नमउक्तिम् नमोवाकम्। विधेम कुर्मः।

इत्युपनिषत्। इतिः समाप्तौ। उप भगवत्समीपे निषीदति तदाज्ञापालनार्थं तिष्ठतीत्युपनिषत्। युक्तं च सेविकायाः सेव्यसमीपावस्थानं तदन्वर्थकं नाम च॥ १८॥

ईशोपनिषदो व्याख्या भगवद्गुणवर्णिनी।
समाप्ता श्रीमदाचार्याज्ञापिताशयबोधिनी॥
अपेयं पुष्टिमार्गीया अपेयं पुष्टिजीवनम्।
बिभर्तीत्येष विश्वासः श्वासः श्वासार्थिनो मम॥

इति शुभम्।

भाषा

वेद परब्रह्म परमात्मा श्रीपुरुषोत्तम के हृदयरूप हैं। उनकी अभिव्यक्ति केवल श्रीपुरुषोत्तम के मुखारविन्दरूप अग्नि (श्रीआचार्य) से ही होसकती है इसलिये और पूर्वोक्त विरहानुभवरूप फल वैश्वानरावताररूप श्रीवल्लभाचार्य द्वारा ही दानयोग्य होने के कारण श्रीपुरुषोत्तम के हृदयाभिप्राय के जिज्ञासु महानुभावों को श्रीमहाप्रभुजी की प्रार्थना अत्यन्त आवश्यक है इस बात को बतलाता हुआ मन्त्र अन्त में उनकी स्तुति करता है—

अग्ने = हे श्रीपुरुषोत्तम के मुखारविन्द!

अस्मान् = (उन वेदों अथवा श्रीपूर्णपुरुषोत्तम के हृदयाभिप्राय के जिज्ञासु) हमलोगों को

सुपथा = सुन्दरमार्ग से (श्रीपुरुषोत्तम के अनुग्रह से आलिङ्गित होना ही मार्ग की सुन्दरता है, तथा दैवीजीवों के उद्धार की इच्छा से होनेवाली अपनी अभिव्यक्तिही अनुग्रहालिङ्गितता है। एवं अपने हृदयाभिप्राय की अभिव्यक्ति के अनन्तर होनेवाला भगवान् के विरह का अनुभव ही दैवजीवों का उद्धार है) अतः

राये = सर्वोत्तमधनरूप भगवान् के लिए अर्थात् भगवान् के समीप

नय = पहुँचाइए।

(आप ही ऐसा करसकते हैं, अन्य कोई नहीं इस विषय में युक्ति बतलाते हैं—क्योंकि आप)

विश्वानि = जितने भी

देववयुनानि = रासक्रीडा करनेवाले श्रीपुरुषोत्तम के क्रीडाचातुर्य हैं उन्हें

विद्वान् = जानते हैं। और

अस्मत् = हम से

जुहुराणम् = (भगवत्स्वरूप को भुलाने के कारण) कुटिल

एनः = विमुखतारूप पाप को

युयोधि = दूर करिए।

(भगवत्प्राकट्य न होने की अवस्था में हम और कुछ नहीं करसकते)

ते = तुझे प्रसन्न करने के लिये

भूयिष्ठाम् = श्रद्धापूर्वक और बार-बार करने से अत्यधिक

नमउक्तिम् = नमस्कार की उक्ति

विधेम = करते हैं।

इति शब्द समाप्ति का द्योतक है।

भगवान् के समीप उनकी आज्ञापालन के लिये जो स्थित हो वह उपनिषद् है। (सेविका का अपने सेव्य के समीप रहना युक्त ही है, अतः 'उपनिषत्' यह नाम सार्थक है) ॥ १८ ॥

(समाप्त)



गोस्वामी

श्री १०८ श्री पुरुषोत्तमलालजी महाराज

श्री बड़ेमहाप्रभु जी का मन्दिर, कोटा (राजस्थान)

की

शुभ संमति

श्री शास्त्री पं० सबलकिशोर जी, मथुरा

शुभाशीर्वादाः । ईशावास्योपनिषद् की व्याख्या का आविष्कार जो तुम्हारे द्वारा हो रहा है वह प्रशंसनीय है । साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के प्रचार की दृष्टि से इस ग्रन्थ के प्रचार की विशेष आवश्यकता है । किमधिकम् ।